विश्व के प्रकाश स्तम्भ

लेखक

हंसराज गर्ग

एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत)

प्रकाशक

आर्य बुक डिपो

३०, नाईवाला, करौलबाग, नयी दिल्ली-५ ।

प्रकाशक:
आर्य बुक डिपो,
करौल बाग, नयी दिल्ली-५

मूल्य : ४·५०

मुद्रक:
अशोक प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली।

प्रवचन

नैतिक आचार सम्बन्धी प्रशिक्षण (Ethical training) के लिए महान् पुरुषों की जीवनियों का अध्ययन अनिवार्य है। किन्तु किसी भी जीवन-चरित का अध्ययन करते हुए, मन से प्रत्येक प्रकार के पूर्वग्रह, रूढ़िवाद आदि को निकाल देना चाहिए और अपने विवेक के आधार पर उसका गुण-ग्रहण करना चाहिए; तभी जीवनी के अध्ययन से कुछ ग्रहण किया जा सकता है। प्रत्येक जीवनी को तर्क, बुद्धि और वर्तमान के परिप्रेक्ष्म में अध्ययन करने से ही हम अपने जीवन में मार्ग दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। व्यवित के चरित्र का, उसके चारित्रिक गुणों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए। ऐतिहासिक पुरुष के जिन गुणों का वर्तमान में जीवित किसी महापुरुष में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो तो उससे मन-ही-मन तुलना करते हुए अध्ययन करना चाहिए। चरित्र के विकास के लिए आदर्श चरित्र का बुद्धि-संगत एवं समन्वित अध्ययन किया जाना उपयुक्त है।

जीवन के विभिन्न पथ हैं। एक ही व्यक्ति सभी पथों पर चलने में असमर्थ होता है। व्यक्तिगत प्रवृत्ति, योग्यता, सामर्थ्य, आवश्यकता, परिस्थितियों के आधार पर ही जीवन में किसी एक पथ को चुनना पड़ता है। यह चुनाव अत्यन्त सूझ-बूझ से किया जाना चाहिए और एक बार पथ चुन लेने पर उसे ही जीवन का लक्ष्य मानते हुए निरन्तर उस पर प्रगति करते जाना चाहिये।

विश्व के सभी महान् पुरुषों में यह एक बात समान पाई जाती है कि वे प्रवाह के विरुद्ध सन्तरण की क्षमता रखते थे। उन्हें कठिनाइयों में आनन्द आता था। राम से जब ऋषि विश्वामित्र ने कहा कि तपोवन में जाने के दो मार्ग हैं—एक कठिनाइयों से भरा और भयानक है तथा दूसरा सरल-सीधा है, तो राम ने प्रथम मार्ग को चुना। लक्ष्य-पथ पर चलते हुए एन्द्रिय सुख अपनी ओर आकर्षित करते हैं और सरलता का मार्ग अपनाने को मन होता है, ऐसे समय जो अपना पथ छोड़ देता है उसे पथ-भ्रष्ट कहा जाता है। प्रत्येक प्रकार की कठिनाइयों को सहन करते हुए बड़े से बड़ा त्याग करते हुए, यहाँ तक कि सर्व-स्वार्पण करके भी जिन्होंने निरन्तर लक्ष्य के लिए प्रयत्न किया, उन्हीं की गणना महामानवों में होती है।

महामानव के लक्ष्य और कार्य की क्षमता की यही कसौटी होती है कि वह 'वहुजन हिताय, वहुजान सुखाय' होता है। धार्मिक नेता, शूरवीर, समाज सेवी, राजनेता और वैज्ञानिक—सभी अपने-अपने ढंग से ऐसा कार्य करके ही महान् वनते हैं, जिससे अधिक से अधिक जनों का लाभ हो।

महान् मानव वनने का प्रथम सोपान यह है कि मनुष्य अपने व्यक्ति और परिवार की परिधि से वाहर आकर विशाल मानवता के जीवन में सहायता पहुँचाने वाले किसी कार्य को सम्पन्न करे। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण जितना ही विशाल और व्यापक होगा, वह उतना ही महान् वनेगा।

महान् वनने के लिए अपने सिद्धान्तों पर अटूट निष्ठा आवश्यक होती है। अविचल भाव से निरन्तर परिश्रम करते रहने पर ही कोई सिद्धि प्राप्त होती है। विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न पथों पर चलने वाले महानुभावों ने किस प्रकार की परिस्थितियों में समस्याओं का कैसे समाधान किया, यह उनकी जीवनी पढ़ने से हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष आ जाता है। इससे हमारी प्रज्ञा समस्याओं के समाधान करने में कुशल होती है।

प्रत्येक महापुरुष की जीवनी से कुछ न कुछ ग्रहण करने की भावना से ही उसका अध्ययन किया जाना चाहिए, उनके जीवन में छिपे मार्मिक स्थलों और रहस्यों को हृदयंगम करके ही हम अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं। केवल महामानवों के जीवन का अध्ययन करने से पुण्य नहीं मिलता, उनके जीवन-गुणों को अपने जीवन में धारण करने से ही महाफल प्राप्त होता है। गुणों को आत्मसात्, न कि अनुकरण करना (Assimilation and not imitation) हमारा सिद्धान्त होना चाहिए।

प्रस्तुत संकलन में सभी वातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यदि कोमल सुमति वालक-वालिकाओं को इससे थोड़ा-वहुत भी लाभ होता है तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा।

—लेखक

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

धर्म पथ — १

१. गौतम बुद्ध … … … ३
२. गुरु नानकदेव … … … १०

शौर्य पथ — २१

३. लक्ष्मीबाई … … … २३
४. लाला लाजपतराय … … … ३४
५. लोकमान्य तिलक … … … ४३
६. अब्राह्म लिंकन … … … ५४

सेवा पथ — ६३

७. फ्लोरेंस नाइटिंगेल … … … ६५
८. महात्मा गाँधी … … … ७१
९. जवाहरलाल नेहरू … … … ८२

साहित्य पथ — ९५

१०. तुलसीदास … … … ९७
११. टॉलस्टाय … … … १०२
१२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर … … … १०८

विज्ञान पथ — ११७

१३. जगदीशचन्द्र बोस … … … ११९
१४. क्यूरी दम्पति … … … १२९
१५. चन्द्रशेखर वेंकटरमन … … १३४
१६. यूरी गागरिन … … … १४१

धर्म पथ

- गौतम बुद्ध
- गुरु नानकदेव

संसार में अनेक धर्म और सम्प्रदाय हैं, उन्हीं में से बुद्धमत भी एक है। परन्तु महात्मा बुद्ध जैसा संभवतः कोई व्यक्ति नहीं हुआ, जिसका मानव की विचारधारा पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा हो। इसका कारण क्या है? सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि संभवतः वे प्रथम उपदेशक थे, जिन्होंने मानव को 'वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय' का विचार दिया। अहिंसा, मानव समता और सत्य का उन्होंने जो उच्च आदर्श मानव के सम्मुख उपस्थित किया, उसी के कारण उनके सिद्धान्त भारत को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को ग्राह्य हुए। विश्व के सभी प्रबुद्ध विचारक महात्मा बुद्ध का वड़े गौरव से नाम लेते हैं। बाह्य विधि-विधान की अपेक्षा धर्म के उदार और उदात्त स्वरूप का ही बुद्ध ने उपदेश दिया, इसी कारण वह भारत की सीमा लाँघकर विश्व के अनेक देशों में रहने वाले मनुष्यों का भी प्रिय धर्म वना।

गुरु नानकदेव ने जिस धर्म का प्रचार किया, उसके नियम भी समस्त संसार के मानवमात्र के लिए उपयोगी हैं। उन्होंने धर्म के वाहरी अंगों और उसके कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव पैदा हो गया था उसे दूर करने का प्रयत्न किया। वे मानव के हृदय में सुधार करके उसमें सत्य, दया और समता की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने ऊँच-नीच के भेदभाव पर चोट की। वे न्याय, नम्रता, सन्तोष, त्याग, परिश्रम करके ईमानदारी की कमाई का उपदेश देते थे। आत्म-सुधार और जीवन के उत्थान के लिए उन्होंने घर का त्याग न कर गृहस्थ में रहकर ही सत्कर्म करने का उपदेश दिया।

धर्म के विषय में इन दोनों महामानवों के उपदेश हमारे आज के जीवन में आलोक प्रदान करते हैं।

: १ :

गौतम बुद्ध

गुण-कर्म के विभाग से भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त किया गया था; किन्तु समय बीतने पर इसके द्वारा ऊँच-नीच का भेद-भाव उत्पन्न हो गया। जाति के कारण मनुष्य मनुष्य से घृणा करने लगा। यज्ञ का अर्थ था ईश्वर-भक्ति, सत्संग और दान; किन्तु कालान्तर में इसका स्थान कर्म-काण्ड ने ले लिया। ऐश्वर्य और बल का प्रदर्शन करने के लिए यज्ञ होने लगे और यज्ञ में पशु बलि देना आवश्यक हो गया। सत्य, समता, अहिंसा, न्याय आदि श्रेष्ठ गुणों का स्थान दम्भ और अनाचार ने ले लिया। ऐसे ही समय में, भारत-भूमि में एक दिव्य विभूति का उदय हुआ। उसने अपने ज्ञान के प्रकाश से न केवल भारत को ही आलोकित किया, अपितु विश्व के मानव-मात्र का भी उपकार किया। वह विभूति थी गौतम बुद्ध ! आज विश्व की विभूतियों में उनका नाम लिया जाता है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व, नेपाल की अधित्यका में कपिल-वस्तु नामक एक राज्य था। वहाँ गौतम वंश के शुद्धोदन नामक शासक का शासन था। शुद्धोदन की दो रानियाँ थीं—महामाया और प्रजावती। वे दोनों सगी बहनें थीं। महामाया यात्रा पर जा रही थी। मार्ग में उसने लुम्बिनी नामक वन में एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र को जन्म देने के सात दिन बाद ही महामाया का देहावसान हो गया। तब बालक की पालना उसकी विमाता प्रजावती ने की।

यथासमय बालक का नामकरण संस्कार हुआ—उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। बालक चन्द्रकला की भाँति बढ़ने लगा। उसका रूप अत्यन्त सुन्दर, शरीर पूर्ण स्वस्थ तथा व्यक्तित्व आकर्षक था।

एक दिन ज्योतिषियों ने सिद्धार्थ का हाथ देखकर राजा शुद्धोदन को बताया कि बालक के चिह्न-चक्रों से यह प्रतीत होता है कि या तो यह चक्रवर्ती महाराज होगा, या विरक्त होकर जगत् का कल्याण करेगा।

बालक का हृदय निर्मल, स्वभाव सरल तथा वाणी मधुर थी। उसके स्वभाव-मनोहर मुख पर उदारता झलकती थी। एक बार वह उपवन में भ्रमण कर रहा था कि अकस्मात् एक हंस उसके पास आकर गिरा। उसकी देह बाण-विद्ध थी। सिद्धार्थ ने उसे गोद में उठाकर अतीव कोमलता से उसकी देह से बाण खींच लिया और फिर अपने वस्त्र से उसके घाव का रुधिर पोंछा। इसी समय शिकारी भी वहाँ आ पहुँचा। वह सिद्धार्थ का चचेरा भाई देवदत्त था। देवदत्त ने कहा—"यह हंस मेरा शिकार है; अतः मुझे दे दो।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—"इस हंस पर मेरा अधिकार है। मैंने इसके प्राणों की रक्षा की है।"

दोनों में विवाद बढ़ गया। अन्त में निर्णयार्थ दोनों को न्यायालय की शरण में जाना पड़ा। न्यायालय ने निर्णय दिया कि मारने वाले की अपेक्षा बचाने वाले का अधिक अधिकार है।

इस घटना से सिद्धार्थ के करुणामय हृदय की एक झलक मिलती है। यही करुणा-भावना निरन्तर परिवर्धित होती गई। प्राणि-मात्र के कल्याण की कामना का चिन्तन करने में ही सिद्धार्थ का प्रति पल व्यतीत होने लगा।

शीघ्र ही शुद्धोदन को विदित हो गया कि सिद्धार्थ बड़ा ही गंभीर तथा चिन्तनशील है। वह राजप्रासाद के किसी कोने में या उपवन में, एकान्त में बैठकर विचारमग्न रहता था। शुद्धोदन को पुत्र की इस मनःस्थिति से गहरी चिन्ता हुई। उसने पुत्र के आमोद-प्रमोद के विविध साधनों का प्रबन्ध कर दिया। किन्तु सिद्धार्थ अपने ही ध्यान में लीन रहता। स्वभावतः वीतराग उस मानव के नयन संसार के आर्त्त प्राणियों की करुणाभरी चित्रपटी देखने में लगे रहते थे। पिता द्वारा प्रस्तुत किये गए आमोद-प्रमोद के साधनों की ओर उसका मन आकर्षित न होता था। अन्ततः शुद्धोदन ने पुत्र को विवाह-बन्धन में आबद्ध करने का निर्णय किया।

विवाह की चर्चा चली। देश-देशान्तरों में दूत प्रेषित किय गए। अनेक राजा-महाराजा अपनी-अपनी गुणवती एवं सुरूपा कन्याओं को साथ लेकर कपिलवस्तु में उपस्थित हुए। अपने मन के अनुरूप कन्या का चुनाव करने का पूर्ण अधिकार सिद्धार्थ को दिया गया।

जहाँ अन्य सब कन्याएँ नानाविध आकर्षक शृंगार करके उपस्थित हुई थीं, वहाँ दण्डपाणि की पुत्री गोपा अपने सहज सौम्य स्वरूप में अत्यन्त स्वच्छ एवं सरल वस्त्र धारण किए आयी थी। वह अत्यन्त सुन्दरी तथा गुणवती थी। उसके हृदय की निर्मलता, मधुरता, उदात्तता उसके स्वभाव-मनोहर मुख पर झलक रही थी।

सिद्धार्थ ने गोपा को चुना; यह देखकर गोपा के आनन्द की सीमा न रही। शुद्धोदन को भी इससे अतीव प्रसन्नता हुई।

गोपा विवाह के उपरान्त यशोधरा कहलायी। उसे प्राप्त करके सिद्धार्थ ने भी अपने भाग्य की सराहना की। वह पति की भावनाओं का बहुत ध्यान रखती थीं और कुछ समय तक तो शुद्धोदन को यही प्रतीत हुआ कि सिद्धार्थ का मन प्रेम-बन्धन में बँध गया है। अब पक्षी कहीं उड़ नहीं सकता। कुछ वर्ष बीत गए। यशोधरा को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। शिशु का नाम राहुल रखा गया। पिता ने विलास की सामग्रियाँ और भी बढ़ा दीं।

किन्तु सिद्धार्थ के मन की विरक्ति पुनः बढ़ने लगी। यशोधरा भी इसका कारण न समझ पायी। सिद्धार्थ को तो किसी और ही बात की धुन लगी हुई थी।

शुद्धोदन ने इस बात का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया कि राजकुमार सिद्धार्थ को किसी प्रकार का उद्वेग या वैराग्यजनक दृश्य देखने को न मिल सके। किन्तु एक दिन विहारार्थ जाते हुए एक वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने रथ रुकवा कर सारथी से प्रश्न किया—"छन्दक ! यह कौन है ?"

"यह एक वृद्ध है।"

"वृद्ध क्या हाता है ?"

"यह भी हमारी तरह मनुष्य है। अब वृद्ध हो गया है। पहले मनुष्य शिशु होता है, फिर बालक, फिर तरुण, फिर युवा और फिर वृद्ध।"

"क्या एक दिन मैं भी इसी प्रकार वृद्ध हो जाऊँगा ?"

"हाँ, राजकुमार ! जो चिरायु हों, उन्हें वृद्ध होना ही होता है।"

"क्या मेरी यशोधरा भी एक दिन ऐसी ही हो जाएगी ?"

"इसमें क्या संदेह है, राजकुमार !"

"छन्दक ! रथ मोड़ लो। मैं आगे नहीं जाना चाहता।"

"जो आज्ञा।"

फिर एक दिन इसी प्रकार एक रोगी और उसके अनन्तर एक मृतक की शवयात्रा देखकर सिद्धार्थ की हृदयस्थ वैराग्य भावना तीव्रतर हो गयी। मध्यरात्रि का समय था। राजकुमार चुपचाप पर्यंक से उठा। उसने एक दृष्टि से यशोधरा और राहुल को देखा और फिर वह प्रासाद से बाहर आ गया। राजसी सुख-भोग, राजसत्ता, वैभव-विलास, पतिव्रता प्राणप्रिया, एकमात्र पुत्र—इन सबका मोह भी उसे न बाँध सका।

छन्दक जब सिद्धार्थ को वन में छोड़कर वापस आया, तब तक कपिलवस्तु में हा-हाकार मच गया था। यशोधरा का कोमल हृदय टूक-टूक हो गया। अबोध बालक राहुल अपनी माँ से बार-बार पूछता—"पिता कहाँ हैं ?"

छन्दक ने उन्हें बतलाया—"सिद्धार्थ वन में तप करने गये हैं। प्राणिमात्र को दुःख से छुड़ाने का महत् कल्याणकारी व्रत उन्होंने ग्रहण किया है। उन्हें संसार का क्षणभंगुर सुख-भोग रोक नहीं सका।"

सिद्धार्थ अपने ध्येय की पूर्ति के लिए चले जा रहे थे। मार्ग में उन्हें तपस्वियों के एक के बाद एक कई आश्रम मिले। किन्तु उन्हें वहाँ साधना का सत्य-मार्ग दिखाई न दिया। वहाँ केवल स्वर्ग-कामना से शरीर को कष्ट देने का रूढ़िगत अनुकरण-मात्र था। वहाँ से वे मगध की राजधानी की ओर गए। नगर के पार्श्व में एक गिरि-कन्दरा का आश्रय लेकर वे जीवन के सत्यों तथा मुक्ति-मार्ग की खोज में चिन्तन करने लगे। वे अकेले उस कन्दरा में बैठकर ध्यान लगाते, भिक्षा माँग कर अन्न लाते और उससे निर्वाह करते थे। लोग उनकी कान्ति से प्रभावित होकर उनके प्रति श्रद्धा दिखलाते; किन्तु उनके मौन को देखकर किसी को उनसे कुछ भी पूछने का साहस न होता था। धीरे-धीरे उनका यश मगध-राज

बिम्बिसार के कानों तक भी पहुँचा। उन्होंने सिद्धार्थ से भेंट करके संन्यास-मार्ग का त्याग करने की उन्हें प्रेरणा दी; किन्तु सिद्धार्थ के मन पर कुछ प्रभाव न हुआ। जब इस नवीन तपस्वी को देखने वहुत लोग आने लगे तो सिद्धार्थ वहाँ से आकड़कालाम ऋषि के आश्रम में चले गए। वहाँ उन्होंने अल्पकाल में ही विद्या पढ़ी; किन्तु मन को वह शान्ति प्राप्त न हो सकी, जिसकी उन्हें खोज थी। तव वे निरंजना नदी के तट पर तप करने लगे। वहाँ उन्होंने कठोर तप आरम्भ किया। आहार की मात्रा कम करते-करते एक चावल तक कर दी। शरीर कंकाल-मात्र शेष रह गया। किन्तु फिर भी वोधि-प्राप्ति न हुई। जीवन की समस्याओं का समाधान न हो सका। जरा-मरण के रहस्य की प्रतीति न हो सकी; संसार के प्राणिमात्र को दुःखित करने वाले दुःख के वास्तविक स्वरूप का भास न हो सका।

निरन्तर छः वर्ष तक कठोर तपस्या करने पर भी सिद्धार्थ को अपने लक्ष्य की प्राप्ति न हुई। तव अकस्मात् एक अंधकारमयी रात्रि में उन्हें एक दिव्य आलोक का भान हुआ। उन्हें विदित हुआ कि देह को कष्ट देकर कभी भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, न ही वासना की अग्नि शान्त हो सकती है। जिस प्रकार विषय-वासनाओं में लिप्त जीवन व्यर्थ है, उसी प्रकार अतिशय कठोर तपस्या भी निष्प्रयोजन है। निर्वल देह में आत्मा प्रवल नहीं रह सकती। अतिशय भोग और अतिशय त्याग दोनों अतिवाद त्याग योग्य हैं। मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है। जिस प्रकार वीणा का अत्यन्त कसा हुआ तार तीक्ष्ण स्वर वाला होता है और सर्वथा शिथिल तार स्वर-रहित होता है; किन्तु न ढीले तथा न वहुत कसे हुए तार में से सुमधुर स्वर-झंकार निकलती है, उसी प्रकार मध्यम—समरस अवस्था में रहते हुए ही मनुष्य उन्नति कर सकता है।

तव उन्होंने सुजाता नाम की श्रद्धालु महिला का दिया हुआ शुद्ध एवं साधारण भोजन किया। अव वोधि-वृक्ष के नीचे उन्होंने आत्म-चिन्तन करना आरम्भ किया। इस प्रकार साधारण जीवन में आत्म-चिन्तन करते हुए उन्हें काम, क्रोध आदि विकारों ने विचलित करने का प्रयत्न किया; किन्तु उन सव को परास्त करके उन्होंने वोधि-प्राप्ति की। इसी से उनका नाम 'वुद्ध' प्रसिद्ध हुआ।

बुद्धत्व प्राप्त होने पर सब से पूर्व काशी के समीप सारनाथ में उन्होंने भिक्षुओं को उपदेश दिया। शीघ्र ही उनके अनुगामियों की संख्या बढ़ने लगी। अनेक राजा-महाराज, राजकुमार, राजकुमारियाँ, विद्वान् और व्यापारी, कृषक और जनसाधारण उनकी दीक्षा लेने लगे।

धर्म प्रचार के लिए बुद्ध ने बड़ा प्रयत्न किया। उनके समय में ही सहस्रों भिक्षु उनके उपदेशों को स्वीकार करके 'बहुजन हिताय, बहुजन-सुखाय' सेवा तथा परोपकार-साधन में लीन हो गए। भिक्षुणियों की सँख्या भी कम नहीं थी। स्थान-स्थान पर बौद्ध मठ और संघाराम स्थापित किये गए। गौतम बुद्ध ने स्वयं समस्त देश में भ्रमण करके सद्धर्म का प्रचार किया। जब वे कपिलवस्तु पधारे तो गोपा के द्वार पर भी गए। उन्होंने भिक्षा माँगी। गोपा क्या देती? उसने अपने सबसे प्रिय राहुल को ही उन्हें भेंट कर दिया। राहुल भी बाल-भिक्षुओं में सम्मिलित हो गया।

निरन्तर ४५ वर्ष तक धर्म प्रचार करने के उपरान्त ८० वर्ष की अवस्था में कुशीनगर में गौतम बुद्ध ने महानिर्वाण प्राप्त किया। उनके शरीर की भस्म को देश के आठ विभिन्न स्थानों पर स्थापित करके उनके श्रद्धालु भक्तों ने स्मारक-स्तूप बनवाये।

बाद में सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध मत का प्रचार श्रीलका, ब्रह्मा, स्याम, लाओस, कंबोडिया, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, चंपा, तिब्बत आदि में भी धूम-धाम से प्रसारित हुआ।

बुद्ध-ज्ञान का सार

(१) संसार में दुःख का अस्तित्व है। (२) दुःख की उत्पत्ति का कारण कामना है। (३) वासना न रहने से दुःख से छुटकारा मिल सकता है। (४) दुःख दूर करने के छः उपाय हैं—(क) सम्यक् वाणी, (ख) सम्यक् कर्मान्त (पवित्र काम करना), (ग) सम्यक् जीविका, (घ) सम्यक् व्यायाम, (ङ) सम्यक् स्मृति और (च) सम्यक् समाधि।

जीव के बन्धन का कारण कर्म है। कर्म वासना और तृष्णा से उत्पन्न होता है। वासना और तृष्णा नष्ट होने पर कर्म का क्षय हो जाता है। किन्तु कर्म से मुक्ति पाना अत्यन्त कठिन है। केवल इच्छा कर लेने मात्र से कोई कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसके

लिए पर्याप्त साधना करनी पड़ती है। जब कोई साधक साधना द्वारा संस्कार और अविद्या का नाश कर देता है, तो उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। इसे ही निर्वाण कहते हैं।

गृहस्थ के लिए उपदेश करते हुए बुद्ध ने कहा था—"प्रत्येक गृहस्थ को अपनी गृहस्थी मंगलमय तथा आडम्बर-रहित बनानी चाहिए। उसका कर्त्तव्य है कि माता-पिता की सेवा करे, उनकी संपत्ति की रक्षा करे, सब प्रकार से उनका उत्तराधिकारी बनने की योग्यता प्राप्त करे। यदि माता-पिता देह त्याग चुके हों तो श्रद्धा-पूर्वक उनका स्मरण करे। शिक्षा देने वाले गुरुजनों का आदर करे और उनकी सेवा-सुश्रूषा करे तथा उनकी आज्ञा में रहे। उनकी आवश्यकताओं को भी यथासंभव पूर्ण करता रहे। सहधर्मिणी और सहयोगिनी पत्नी का आदर करे। उससे कभी विश्वासघात न करे। उसे वस्त्रादि से सदा सन्तुष्ट रखे। संतान को दुष्कर्मों से बचाए। उनकी शिक्षा-दीक्षा का भली-भाँति प्रबन्ध करे। अपने मित्रों और स्वजनों से निष्कपट सद्व्यवहार करे। परोपकारी साधु-जनों की सब प्रकार से सेवा करे। सेवकों की सदा देख-रेख करे, उनका पालन-पोषण भली-भाँति करे। यदि यज्ञ में हिंसा अनिवार्य है तो ऐसे यज्ञ को छोड़ दे।

: २ :

गुरु नानकदेव

जीवन—भारत की जनता को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए, उनमें नैतिक गुणों की चेतना जगाने के लिए समय-समय पर अनेक महान् पुरुष अवतरित होते रहे हैं। ऋषभदेव, महावीर स्वामी, बुद्धदेव, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु, कबीर और नानक प्रभृति सन्तों के अमृतमय उपदेशों के कारण ही हमारी संस्कृति में निरन्तर प्राणों का सञ्चार होता रहा है।

लाहौर से चालीस मील दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के तट पर राइभोई तलवंडी नामक एक ग्राम था, जिसे अब ननकाना साहब कहते हैं। इसी स्थान पर कार्तिकी पूर्णिमा को संवत् १५२६ में कल्याणचन्द वेदी के घर नानक जी का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक से पूर्व कल्याणचन्द के घर एक पुत्री थी, जिसका नाम नानकी था। कल्याणचन्द का प्रसिद्ध नाम कालूचन्द था। वे पटवारी का काम करते थे; साथ ही वे व्यापार भी करते थे।

बालकपन से ही नानक में भक्ति की भावना प्रबल थी। ये एकान्त में ध्यान लगाकर बैठ जाया करते थे और 'सत्य कर्तार' का कीर्तन किया करते थे।

कल्याणचन्द ने इन्हें पाँच वर्ष का होने पर गोपाल पंडित के पास भेजा। वहाँ इन्हें भाषा तथा गणित की शिक्षा दी जाती थी। गणित में तो इनका मन न लगता था, किन्तु भाषा को इन्होंने मनोयोग से सीखा। इसके उपरान्त इन्हें पं० ब्रजनाथ के पास संस्कृत सीखने के लिए भेजा गया। इसके उपरान्त ये मौलवी कुतबुद्दीन के पास फारसी पढ़ने गए। तीनों ही अध्यापक नानक जी के विलक्षण

ज्ञान पर चकित रह गए थे; क्योंकि इतनी छोटी अवस्था में गूढ़ ज्ञान की बातें आश्चर्यकारक थीं।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उस समय नानक जी ने पुरोहित हरदयाल पांडे से कहा—"पुरोहित जी ! मुझे ऐसा जनेऊ पहनाओ जो कभी न टूटे। यह कच्चा धागा क्या पहनाते हो ? ऐसा जनेऊ पहनाओ, जिसमें सत्य, दया और सन्तोष के सूत्र हों।"

दया कपाह संतोष सूत जतु गंढी सतु वहु।
ऐह जनेऊ जीय का हई ते पांडे घत्तु॥
ना एहु तुट्टे ना मलु लगै न एहु जले न जाइ।
धन्न सु माणस नानका जो गलि चल्ले पाइ॥

अब नानक जी अपनी गौएँ चराने वन में जाने लगे। वहाँ किसी पेड़ के नीचे बैठे-बैठे ध्यान में लीन हो जाते। गौएँ दूर-दूर निकल जातीं। तब इनके संगी-साथी उन्हें घेर कर लाते और इनकी समाधि टूटती।

नानक जी जब कुछ और बड़े हुए तो पिता ने उनको व्यापार में लगाने का निश्चय किया। पिता ने पुत्र के हाथ में कुछ रुपये दिये और कहा कि जाओ कुछ सौदा कर आओ। रुपये लेकर नानक जी चल पड़े। मार्ग में एक जंगल पड़ता था। वहाँ बहुत से साधु बैठे थे। वे कई दिन के भूखे थे। नानक जी का मन पिघल गया। सौदे के लिए लाये रुपयों से अन्नादि लाकर उन्होंने साधुओं को भोजन करा दिया।

जब नानक जी घर लौटे तो पिता ने पूछा कि क्या सौदा कर आये हो। उत्तर में नानक जी ने कहा—"मैं सच्चा सौदा कर आया हूँ।" पिता को बड़ा क्रोध आया; किन्तु तलवंडी के ज़मींदार राय बुलार ने उन्हें समझाया—"बेदी जी ! नानक संसारी सौदे नहीं करने आये। ये तो निरंकारी जोत हैं, आपने इन्हें पहचाना नहीं। एक दिन सारी दुनिया इनकी पूजा करेगी।" जिस स्थान पर यह परोपकार का कार्य उन्होंने किया था, वह स्थान इस समय 'सच्चा सौदा' के नाम से प्रसिद्ध है।

नानक जी घर से उदासीन रहते थे। वे जँगलों को निकल जाते। भूख-प्यास की उन्हें कोई चिन्ता न होती थी। माता तृप्ता जी पुत्र की यह दशा देखकर घबरा गयीं। कल्याणराय जी से उन्होंने कहा—

"नानक को कोई तकलीफ है।" कल्याणराय वैद्य हरिदास को बुला लाये। वैद्य आकर उनकी नाड़ी टटोलने लगा। नानक जी ने वैद्य से कहा—

"वैद बुलाइया वैदगी, पकड़ ढंढोले बांह।
भोला वैद न जानई, करक कलेजे मांह॥
वैदा वैद सुवैद तूं पहलाँ रोग पछाण।
ऐसा दारू लोड़ लहि, जित वजै रोगा घाण॥
जित दारू रोग उठि अहि तन सुख वसै आई।
रोग गवायहि आपणता नानक वैद सराहि॥"

वद्य ने हाथ जोड़ दिए और कल्याणराय जी से कहा कि आप कहीं भी न भटकिये। आपका पुत्र रोगी नहीं; किन्तु जन-जन के रोग दूर करने के लिए ईश्वर का भेजा हुआ वैद्य है।

कपूरथला के पास सुलतानपुर एक शहर है। उन दिनों वहाँ दौलतखाँ नाम का एक सूवेदार था। नानक जी की वहन नानकी का विवाह दौलतखाँ के कारिन्दे जयराम के साथ हुआ था। जयराम वहुत ही नेक और सहृदय व्यक्ति थे। संवत् १५४१ में वे तलवंडी गए। वे अपने साथ नानक जी को सुलतानपुर ले आए। जयराम की इच्छा थी कि नानक जी किसी काम में लग जाएँ। उनके कहने से नवाव दौलतखाँ ने नानक जी को अपना मोदी वना लिया। उस समय शासन की ओर से वेतन देने के दो कायदे थे—नकद वेतन देने का और खाद्य-सामग्री देने था। खाद्य-सामग्री देने के लिए ही उस समय मोदी रखे जाते थे। यहाँ नानक जी भूखे लोगों और साधु-संतों को जी खोलकर अन्न देते 'तेरा ही है, तेरा ही है' कहकर वे वाँटते थे। कुछ लोगों ने नवाव से शिकायत कर दी। किन्तु हिसाव-किताव देखने पर ठीक निकला। क्या जाने, नानक जी अपने सारे वेतन से कमी की भरपाई कर देते हों।

इन्हीं दिनों गुरदासपुर ज़िले में 'रंधावे की पक्खो' गाँव के मूलचंद खत्री की लड़की से नानक जी का टीका हो गया। २४ ज्येष्ठ संवत् १५४५ को नानक जी का विवाह सुलक्खनी से सम्पन्न हुआ। संवत् १५५१ में नानक जी के घर श्रीचंद और १५५३ में लक्ष्मीचंद नामक पुत्र हुए।

गृहस्थ होकर भी नानक जी जल में कमलवत वन्धन से अलिप्त

रहते थे। प्रातः चार बजे उठकर शौच-स्नान से निवृत्त होकर 'बईं' के किनारे पर परमात्मा-चिन्तन में लीन हो जाते थे। फिर दिन-भर मोदीखाने का काम करते। सायंकाल होते ही साधु-सन्तों की संगति में जा बैठते थे।

एक दिन नानक जी का मिरासी मरदाना सुलतानपुर आया। उसने नानक जी से कहा—मेरी लड़की का व्याह है; यह आपको ही करना होगा। नानक जी ने अपने शिष्य भगीरथ को भेजकर लाहौर से सब चीज़ें मंगवा दीं।

नानक जी की ज्ञान-चर्चा की कीर्ति दूर-दूर तक फैलने लगी। लोग बड़ी श्रद्धा से उनकी वाणी सुनने के लिए आते। ज्ञान-चर्चा और सत्संग का काम बढ़ता गया। समय और आय का बहुत-सा भाग नानक जी बाहर ही व्यय कर देते थे। सुलक्खनी दो बेटों की पालना के लिए धन की मांग करने लगी। किन्तु नानक जी भूखे-नंगे को देखकर उसका कष्ट निवारण किये बिना रह न सकते थे; अतः घर में संघर्ष होने लगा। तब नानक जी को अनुभव हुआ कि 'यहि घर' और 'वहि घर' दोनों में से अब एक को चुनना पड़ेगा। नानकदेव को माता-पिता, पत्नी और पुत्रों का मोह बाँध न सका। नानकी और जयराम के समझाने का भी कुछ फल न हुआ और एक दिन सब कुछ त्याग कर विरक्त हो गये।

तीन दिन लुप्त रहने के बाद नानक जी सुलतानपुर में आए और उन्होंने घोषणा की—

"हिन्दू और मुसलमान सभी उस परमपिता परमात्मा के पुत्र हैं। ये भेद तो यहाँ खड़े कर लिये हैं। वास्तव में न तो कोई हिन्दू है, न मुसलमान।"

नवाब ने नानक जी को बुलवा भेजा। नानक जी सत्संग में लगे हुए थे; वे न गए। नवाब ने दुबारा आदमी भेजा। नवाब ने नानक जी के पहुँचते ही पूछा—"आप पहली बार बुलाने से क्यों नहीं आये थे?" नानक जी ने उत्तर दिया—"अब मैं आपका नौकर नहीं रहा। खुदा की नौकरी कर ली है।" नवाब ने पूछा—"इस वक्त खुदा की नौकरी में क्या काम कर रहे हो?" नानक जी ने जवाब दिया—"इस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों सतपथ से हट गए हैं, इसलिए मैं दोनों को सत्य का पंथ दिखाने की तैयारी कर रहा हूँ।

वसे मैं दोनों धर्मों को एक दृष्टि से देखता हूँ।" बीच में काजी बोल पड़ा—"यदि आप दोनों धर्मों को एक निगाह से देखते हैं, तो हमारे साथ नमाज पढ़ने चलें।" नवाब ने काजी की बात पर ज़ोर दिया।

मस्जिद में भारी भीड़ इकट्ठी हो गई। मुल्ला और काजी के साथ नानक जी भी जा खड़े हुए। किन्तु नानक जी नमाज के अन्त तक खड़े ही रहे। नमाज खतम होने पर नवाब ने क्रोध-भरे स्वर में पूछा—"आपने नमाज क्यों नहीं पढ़ी?" नानक जी ने हँसकर कहा—"किसके साथ नमाज पढ़ता? आप तो कंधार में घोड़े खरीद रहे थे और काजी अपने उस बछेड़े की देखभाल कर रहा था, जो उसकी घोड़ी ने आज ही दिया है।" बात सच थी, इसलिए नवाब और काजी दोनों अवाक् रह गए।

जब तलवंडी में यह समाचार पहुँचा कि नानक जी फकीर हो गए हैं, तो उनके माता-पिता ने मरदाना को समझाने के लिए भेजा। मरदाना जब वहाँ पहुँचा, तो नानक जी भक्ति में लीन थे। मरदाना उन्हें क्या समझाता? वह भी उन्हीं के रँग में रंगा गया। उनके गीतों के साथ रबाब बजाने लगा। अब नानक जी गुरु नानक कहलाने लगे और उनके शिष्यों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी। वे भक्ति, सदाचार और मन के सुधार विषयक गीतों की रचना करके गाते थे, और मरदाना उनके स्वर के साथ रबाब बजाता था।

संवत् १५५६ में गुरु नानक जी ने अपनी यात्रा आरम्भ की। इस समय इनकी अवस्था ३० वर्ष की थी। गाँवों और कस्बों में प्रचार करते हुए वे लाहौर पहुँचे। वहाँ बादशाह सिकंदर लोदी का प्रतिनिधि अनेक मुल्ला-मौलवियों के साथ सत्संग में आया। उसने सत्संग के बाद श्रद्धा से सिर झुका दिया। इससे साधारण लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और सैकड़ों लोग गुरु जी के शिष्य बन गए। लाहौर से गुरु जी एमनाबाद पहुँचे। वहाँ उन्होंने मलिक भागो नामक खत्री का आतिथ्य अस्वीकार किया और लालो नामक खाती के घर ठहरे। खाती शूद्र समझे जाते थे। उनके घर का खाने पर लोगों में हलचल मच गई। पूछने पर नानक जी ने कहा—"भोजन न तो ब्राह्मण है, न शूद्र। हम तो नेक कमाई का अन्न खाते हैं। लालो की रोटी का टुकड़ा पसीने की कमाई है। इसमें दूध की धारा है। भागो की अत्याचार की कमाई से बने पकवान में खून की धार है।"

स्यालकोट में पहुँचकर गुरु नानक जी ने एक वेरी के पेड़ के नीचे आसन लगाया। यह स्थान 'वेर बाबा नानक' के नाम से प्रसिद्ध है।

कल्याणराय और राय वुलार ने भाई बाला को भेजा कि जाकर एक बार गुरु जी को तलवंडी लाओ। तव गुरुजी बाला और मरदाना के साथ तलवंडी पहुँचे। वहाँ वे गाँव से बाहर कुएँ पर ठहरे। माता, पिता, चाचा आदि वहाँ आए। उन्होंने नानक जी को बहुत समझाया कि फकीरी वेश उतार दो और घर में रहकर भले ही आठों पहर भजन किया करो। किन्तु नानक जी पर कुछ प्रभाव न हुआ।

तलवंडी से गुरु जी छांगामांगा पहुँचे। वहाँ साधु-संतों से ज्ञान वार्ता करने के उपरान्त वे चूनियाँ गए। फिर वे मालवा की तरफ चल पड़े। पहाये नामक स्थान पर उपदेश करने के बाद वे सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ उन्होंने उपदेश किया कि ग्रहण के अवसर पर दान-पुण्य से स्वर्ग नहीं मिलेगा, जो भी भले-बुरे कर्म किये हैं, उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा।

संवत् १५६२ विक्रमी की वैसाखी के दिन गुरुजी हरिद्वार पहुँचे। यहाँ गढ़वाल के राजा विजय प्रकाश ने उनकी वाणी का प्रसाद प्राप्त किया। सहस्रों लोग उनका सत्संग सुनकर तृप्त हुए। गंगा में पूरव की ओर मुँह करके कुछ लोग जल चढ़ा रहे थे। नानक जी पश्चिम की ओर मुँह करके जल चढ़ाने लगे। लोगों के पूछने पर उन्होंने कहा—"पंजाव में हमारे खेत हैं, उनके लिए जल चढ़ा रहा हूँ।" लोगों ने पूछा—"क्या यह जल वहाँ पहुँच जाएगा?" गुरु नानक जी ने उत्तर दिया—"यदि मेरा भेजा जल मेरे खेतों तक नहीं पहुँच सकता, तो तुम्हारा चढ़ाया जल परलोक में कैसे पहुँच सकता है?"

हरिद्वार से गुरु जी दिल्ली पहुँचे और 'मजनू के टीले' पर ठहरे। वादशाह सिकन्दर लोदी साधु-सन्तों और फकीरों का घोर विरोधी था। वास्तव में उस समय साधु-फकीरों की वाढ़ आयी हुई थी। वहुत-से खरे-खोटे लोग साधु-फकीर वनकर लोगों को ठगते थे। वादशाह ने आज्ञा दी कि साधु-फकीरों को पकड़-पकड़कर कैदखाने में वन्द कर दो। कैदखाना साधु-फकीरों से भर गया। वहाँ उनसे

कठोर काम लिया जाता था। चक्कियाँ घिसवाई जाती थीं। गुरु नानक जी को भी कैदखाने में बन्द कर दिया गया। वहाँ नानक जी ने अपना गीत गाना शुरू कर दिया। मरदाना रबाब बजाने लगा। सभी कैदी चक्कियाँ छोड़कर गीत गाने में सम्मिलित हो गए। यहाँ तक कि कैदखाने के कर्मचारी भी स्वर के साथ झूमने लगे। कैदखाने के अधिकारी ने बादशाह को सारा वृत्तान्त सुनाया। चकित होकर वह गुरु जी के पास दौड़ा आया। गुरु जी के ज्ञान का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने सारे कैदी छोड़ दिये।

दिल्ली से अलीगढ़, मथुरा, वृन्दावन, आगरा, कानपुर और लखनऊ होते हुए वे अयोध्या पहुँचे। वहाँ धर्मोपदेश करने के उपरान्त संवत् १५६३ में वे काशी पहुँचे। वहाँ कबीर जी ने उनसे भेंट की। दोनों सन्तों में खूब ज्ञान-चर्चा हुई।

काशी से जौनपुर, बक्सर, छपरा होते हुए गुरु जी पटना पहुँचे। पटना में हिन्दू-मुसलमान भारी संख्या में उनके सत्संग में सम्मिलित हुए। पटना से वे गया गए। वहाँ उन्होंने लोगों को उपदेश किया कि श्रद्धा से ईश्वर के नाम का जाप करना ही सच्चा श्राद्ध है। गया से वैद्यनाथ धाम होते हुए वे मुँगेर, भागलपुर, राजमहल आदि गए। वहाँ से मालदा होकर वे आसाम चले गए। तदनन्तर मुर्शिदाबाद, बर्दवान, हुगली आदि अनेक स्थानों पर उन्होंने प्रचार किया।

यहाँ से वे ढाका गए। वहाँ अनेक हिन्दू-मुसलमान साधु-फकीरों ने उनके सत्संग से लाभ उठाया। वहाँ से गुरु जी गौरीपुर धौबिया बन्दर पहुँचे। समुद्रतट के इस शान्त स्थान पर उन्होंने कुछ दिन विश्राम किया। इसके अनन्तर वे ब्रह्मपुत्र नदी पार करके आसाम के करीमगंज, अजमेरीगंज, सिलहट आदि नगरों में गए। फिर सरिता नामक नदी को पार करके कछार में पहुँचे। यहाँ के नागा लोगों को उन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। फिर मनीपुर, रोसमफल आदि होते हुए लोशाई नगर पहुँचे। वहाँ का राजा देवलोत गुरु जी की वाणी से बहुत प्रभावित हुआ। यहाँ से सीमावर्ती राज्यों के कुछ राजाओं को अपना शिष्य बनाने के बाद गुरु जी सिंहलद्वीप पहुँचे। कुछ दिन सिंहल में धर्मप्रचार करने के बाद वे कालीघाट आए। इस समय इसी स्थान पर कलकत्ता है। यहाँ उन्होंने अपने सिद्धान्तों

का प्रचार किया। फिर कांचीपुरी और साखी गोपाल होते हुए वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ बहुत से लोग, यहाँ तक कि पंडे-पुजारी भी इनके शिष्य हो गए। वहाँ से दानापुर और सुहागपुर होकर कंटकगिरि गए। यह स्थान विंध्याचल में है। वहाँ से फरीदवाड़ा होते हुए गुरु जी ने भोपाल, सत्य महल, चन्देरी, झाँसी, ग्वालियर, आगरा, धौलपुर, भरतपुर, मथुरा, गुड़गाँव, रिवाड़ी और नारनौल की यात्रा की। सर्वत्र उनके धर्मोपदेश को सुनने के लिए हजारों लोग आते थे। नारनौल से झज्जर और दुजाना होते हुए वे करनाल पधारे। यहाँ शेख शमसुद्दीन नामक प्रसिद्ध फकीर ने अनेक सूफियों के साथ गुरु नानक जी से भेंट की। शेख उनके साथ आध्यात्मिक चर्चा करके अत्यन्त प्रसन्न हुआ। करनाल से वे थानेश्वर, कुरुक्षेत्र, मलेरकोटला, जगराँव, आदि में प्रचार करते हुए हरिकेपत्तन पहुँचे। यहाँ से सतलुज नदी को पार करके वे सुलतानपुर जा पहुँचे। चार मास सुलतानपुर रहने के बाद वे पुनः यात्रा पर निकल पड़े। राय बुलार के आमंत्रण पर वे तलवंडी भी गए। यहाँ से कसूर जाकर उन्होंने मुसलमान फकीरों के साथ भेंट की और अपना मत उन्हें समझाया। फिर धर्मकोट, भटिंडा, सिरसा में सत्संग करते हुए बीकानेर पहुँचे। यहाँ जैन साधुओं ने उनसे भेंट की। यहाँ से गुरु जी जयसलमेर गए। फिर जोधपुर में कुछ दिन रहकर अजमेर गए। यहाँ उनसे आकर कई फकीरों ने कहा—"जब आप हिन्दू-मुसलमान धर्मों को बराबर समझते हैं तो हमारे साथ चलकर नमाज क्यों नहीं पढ़ते ?" गुरु जी ने उत्तर दिया—

"शुभ कर्म काबा है। सत्य बोलना कलमा है। कर्त्तव्य-पालन करना नमाज है।"

कातिक पूर्णिमा के दिन पुष्कर के मेले में जाकर गुरु जी ने धर्मोपदेश किया। फिर देवगढ़, नसीराबाद, आबू, झालरापाटन, ईडर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, जावरा, धार में प्रचार करने के उपरान्त उज्जैन गए। उज्जैन में कई दिन तक उन्होंने धर्मोपदेश किया। यहाँ से होशंगाबाद आदि होते हुए रामटेक पहुँचे। वहाँ से कामठी, नागपुर होकर आवडा में गए। यहाँ उनकी नामदेव से भेंट हुई। कई दिन तक दोनों सन्तों में ज्ञान-चर्चा होती रही। गुरु ग्रन्थ साहब में नामदेव जी की साखियाँ भी सम्मिलित हैं। फिर बीदर में जाकर

उन्होंने कनफटे जोगियों के बाह्य आडंबरों का खण्डन किया। हैदरा-बाद में भी इनके सत्संग की कई दिनों तक धूम रही।

यहाँ से गुरु नानक जी पांगल पहुँचे। वहाँ गुरु जी की परीक्षा लेने के लिए कनफटे जोगी एक तिल लेकर गुरु जी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने सुन रखा था कि गुरु जी को जो पदार्थ भेंट किये जाते हैं, उन्हें वे तत्काल सब में बाँट देते हैं। देखें, इस छोटे-से तिल को इतने आदमियों में कैसे बाँटते हैं। गुरु जी उनकी चतुराई भाँप गए। उन्होने तिल लेकर मरदाना से कहा कि इस तिल को जल में पीस कर सबको आचमन करा दो। इस स्थान पर एक गुरुद्वारा बना हुआ है जिसका नाम 'तिलगंज' है। यहाँ से गुरु जी पालमकोट, अरकाट, पांडिचेरी और रामेश्वरम् होते हुए श्रीलंका पहुँचे। वहाँ जनसाधारण के अतिरिक्त राजा-रानी भी इनके ज्ञान के सम्मुख नत-मस्तक हुए।

श्रीलंका से वापस लौटते हुए ये मैसूर, शृंगेरी-मठ, कालीकट, बंगलौर होते हुए पंचवटी पहुँचे। वहाँ से गुजरात में गए और भड़ोच, बड़ौदा, अहमदाबाद, भावनगर, पालिताना और जूनागढ़ गए। जूनागढ़ में उनकी नरसिंह भगत से भेंट हुई। फिर गिरनार पर्वत पर कुछ दिन सत्संग करने के बाद गुरु जी ने सुदामापुरी, सोमनाथ और द्वारिका की यात्रा की। वहाँ से कच्छ और भुज की यात्रा की। वहाँ से अमरकोट होकर फिरोजपुर आ गए। उसके अनन्तर इन्होंने बहावलपुर आदि अनेक स्थानों की यात्रा की। मुलतान में कई फकीर भी इनके उपदेश सुनने आए।

फकीरों ने गुरु जी को दूध से लबालब भरा एक प्याला भेंट किया, जिसका अर्थ यह था कि यह शहर पहले ही फकीरों से भरा हुआ है, आप इसमें कहाँ समाएँगे? गुरु नानक ने उस कटोरे में एक बताशा डाल दिया। यह था संत का एक जवाब!

मुलतान से गुरु नानक जी तलम्बा पहुँचे। वहाँ एक सजना नामक ठग भी गुरुजी का उपदेश सुनने आया। उपदेश सुनते हुए उसके हृदय में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसी दिन से वह सुमार्गगामी हो गया।

वहाँ से सुलतानपुर और तलवंडी होते हुए ये गुरदासपुर के कलानौर ग्राम में पहुँचे। उसके पास ही इन्होंने करतारपुर गाँव बसाया और वहीं रहकर भजन करने लगे। कुछ दिनों बाद सुलक्खनी भी अपने दोनों पुत्रों सहित वहीं आकर रहने लगी।

तीन वप वहाँ रहकर गुरु जी अपनी तीसरी उदासी (यात्रा) पर निकले। इस बार उन्होंने कलानौर, दसूहा, त्रिलोकनाथ, पालमपुर, कांगड़ा, ज्वालामुखी, खालसर आदि में धर्मोपदेश किया। फिर वे नादौन, सुकेत, मंडी होते हुए कुल्लू पहुँचे। वहाँ उन्होंने गद्दियों को उपदेश दिया। इसके अनन्तर वे चम्बा, कीर्तिपुर, गढ़वाल, चकरौता, मसूरी की यात्रा करते हुए बद्रीनारायण गए। यहाँ से हिमालय पार करके हेमकूट होते हुए सप्तशृंग पहाड़ पर पहुँचे। फिर रानीखेत, अलमोड़ा, नैनीताल, नेपाल, भूटान, सिक्किम होते हुए वे तिब्बत जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने तिब्वती लामाओं से भी सत्संग किया। लौटते हुए अनेक स्थानों पर धर्म-प्रचार करते हुए वे जालंधर आ गए। फिर कुछ दिन सुलतानपुर में रहकर वे दो वर्ष वाद पुनः करतारपुर में पहुँच गए।

चौथी यात्रा में गुरु नानक जी विलोचिस्तान में धर्म-प्रचार करने के बाद मक्का गए। यात्रा से थके हुए वे वहाँ सोए हुए थे। प्रातः एक मुल्ला ने देखा, तो इन्हें टोकते हुए कहा कि आपके पैर खुदा के घर (कावा) की ओर हैं। नानक जी ने कहा—"मेरे पैर उधर कर दो, जिधर खुदा न हो।" यह सुनकर मुल्ला लज्जित हो गया। काजी ने भारत से आए इस फकीर को बुलवाया। इनके ज्ञान से प्रभावित होकर उसने इनका वड़ा सम्मान किया। वहाँ कुछ दिन अपने मत का प्रचार करने के उपरान्त ये मदीना गए। वहाँ भी ये संगीत के साथ भक्ति के गीत गाते थे। इमाम क पास इनकी शिकायत पहुँची; क्योंकि वहाँ संगीत का निपेध था। गुरु नानक जी से वार्तालाप करने के वाद इमाम ने स्वयं इनके गीत सुने। मदीना से वगदाद, रूम, ईरान और अफगानिस्तान में प्रचार करते हुए गुरु जी ने पेशावर, हसन अब्दाल आदि में प्रचार किया। यहीं पंजा साहव नामक स्थान है। वापस लौटते हुए नानक जी ऐमनावाद में ठहरे। यहीं पर उनकी वावर से भेंट हुई।

कुछ लोग इनकी पाँचवीं यात्रा भी वतलाते हैं; किन्तु प्रायः इनकी चार यात्रायें ही प्रसिद्ध हैं। इन यात्राओं में इनकी आयु के तीस वर्ष व्यतीत हुए। इसके अनन्तर अपने जीवन के १५ वर्ष उन्होंने करतारपुर में ही विताये। आश्विन सुदी १० संवत् १५९६ में यह निरंकारी ज्योति परम ज्योति में विलीन हो गयी।

शिक्षा—नानक जी एकेश्वरवादी और निगु णोपासक थे। उन्होंने न तो मौलवियों के कट्टरपन को सीखा और न पंडितों के आडंबर को अपनाया। उन्होंने दया, क्षमा, शील, परोपकार, प्रेम और धैर्य, निर्भयता और अक्रोध आदि आन्तरिक गुणों को धारण करने पर वल दिया।

वे हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सवको बरावर समझते थे। उन्होंने शिष्य वनाते हुए कभी किसी की जाति न पूछी थी। वे अपने विरोधी मत वालों को दुष्ट, नीच, म्लेच्छ, काफिर आदि न कहकर वड़ी नम्रता से अपना मत समझाया करते थे। वे नम्रता को सब प्रकार की उन्नति की सीढ़ी मानते थे—

"फल नींवयाँ रुखां नू ँ लगदे।
उच्चा हो के मास्यों गयों सिवला !"

और—

"नानक नन्हे हो रहो, जैसी नन्ही दूव।"

शौर्य पथ

- रानी लक्ष्मीबाई
- लाला लाजपतराय
- लोकमान्य तिलक
- अब्राहम लिंकन

पराधीनता के बन्धनों को काटने के लिए संसार में अनेक महान् पुरुषों ने शौर्य का प्रदर्शन किया है, इनमें कुछ नारियों का शौर्य-प्रदर्शन एक चमत्कार ही कहा जाएगा। इनमें लक्ष्मीबाई का नाम अत्यन्त उज्ज्वल है। इसकी तुलना फ्रांस की स्वतन्त्रता की देवी जोन ऑफ आर्क से की जा सकती है। जब भारत अंग्रेज़ी राज्य की बेड़ियों में जकड़ा तड़प रहा था, जब मातृभूमि का भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा था, तब झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई स्वाधीनता की मशाल लेकर आगे बढ़ी। सन् सत्तावन के सेनानियों के मध्य, अपने शौर्य, अदम्य साहस, सूझ-बूझ और रण-कौशल के कारण, शीघ्र ही उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। उसने स्वाधीनता की ज्वाला ऐसी ऊँची सुलगाई कि एक बार तो अंग्रेज़ी राज्य की सत्ता सन्देह में पड़ गई। उसने किसी परिस्थिति से समझौता न किया सारा शरीर छिद जाने पर भी वह अन्तिम दम तक लड़ती रही; उसने आत्म-समर्पण नहीं किया। जब तक भारत है और भारतीयों में स्वदेशाभिमान है, इस देवी का आदर से स्मरण किया जाता रहेगा। आज भी स्वाधीनता की इस देवी का यश बुन्देलखण्ड की लावनियों, फागों, दादरों और सोहरों में गाया जाता है।

सन् सत्तावन की स्वतन्त्रता की ज्वाला बुझी न थी, केवल दब गई थी और कांग्रेस के रूप में वह स्वाधीनता की माँग को लेकर सम्मुख आई। लाला लाजपतराय तथा तिलक ने अपने शौर्य से भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ों तक को हिला दिया। लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक का शौर्य तोप-बन्दूक का शौर्य न था, फिर भी उनसे कुछ कम न था! शस्त्र नये थे; किन्तु शौर्य रानी लक्ष्मीबाई वाला ही था। लाल और बाल ने भाषण-शक्ति और लेखन-

शक्ति के वल पर ब्रिटिश साम्राज्य को ललकारा और करोड़ों भारतीयों को बताया कि यदि देश स्वतन्त्र नहीं होता, तो उनका जीवन व्यर्थ है, इस प्रकार सर्वप्रथम आत्माहुति देकर—सहर्ष जेल-यात्रा करके इन्होंने देश के लिए युद्ध का एक नया मार्ग खोला और इसी मार्ग पर चलकर हमारे देश ने स्वतन्त्रता पायी।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए रानी लक्ष्मीवाई, लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक ने शौर्य-पथ अपनाया, तो अब्राह्म लिंकन ने मौन-मूक-सहिष्णु गुलामों का भीषण यन्त्रणाओं से उद्धार करने के लिए, उन्हें स्वतन्त्रता दिलाने के लिए अपने प्राणों को झोंक दिया; भारी विपत्तियाँ उठाकर भी उसने मानवता के कलंक 'गुलामी प्रथा' को धो दिया।

स्वतन्त्रता के इन उपासकों की जीवनियों का अध्ययन करने से हम में सच्चे उद्देश्य के लिए वीर भावों का संचार होता है। उनकी तरह सत्यनिष्ठ, सेवापरायण और पर-दुःख-कातर वनकर हम भी ऊँचे उठ सकते हैं।

: ३ :

लक्ष्मीबाई

पेशवा की सेना में बलवन्तराव तांबे नामक एक योग्य अफसर था। उसके पुत्र का नाम मोरोपंत तांबे था। अंग्रेज़ों ने बाजीराव पेशवा को गद्दी से उतार दिया और वह बिठूर में जाकर रहने लगा। तब अंग्रेज़ों ने बाजीराव के स्थान पर उनके अनुज चिमाजी को पेशवा बनाकर मनमानी करनी चाही, तो स्वाभिमानी चिमाजी काशी चला गया। मोरोपंत तांबे भी चिमाजी के साथ जाकर काशी में बस गया।

१६ नवम्बर, सन् १८३५ को मोरोपंत के घर एक बालिका ने जन्म लिया। इसका नाम मणिकर्णिका रखा गया। परन्तु प्यार से सभी इसे 'मनु' कहकर पुकारते थे। जन्मकुंडली बनाते समय पंडितों ने मोरोपंत को बताया था कि मनु के भाग्य में राजयोग लिखा है। जब मनु चार वर्ष की ही थी कि उसकी माता का देहान्त हो गया।

कुछ समय बाद बाजीराव ने मोरोपंत को बिठूर बुला लिया यहाँ आकर मनूबाई बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब के साथ पढ़ने, खेलने और शस्त्र-अस्त्र चलाना सीखने लगी। मनु से सब स्नेह करते थे और बाजीराव ने उसका नाम 'छबीली' रखा था। छबीली जितनी तेजस्विनी थी, उतनी ही कोमल स्वभाव वाली थी। छोटी अवस्था में उसे घुड़सवारी का बड़ा शौक था और तलवार, बन्दूक और तोप चलाना सीखने का बड़ा चाव था। वह निर्भयता से हथियार चलाती, तैरती तथा घुड़सवारी करती थी। सात-आठ वर्ष की अवस्था में ही इस बालिका की फुर्ती, चंचलता और बुद्धि-चतुरता को देकर लोग दंग रह जाते थे। यहाँ तक कि सेना की व्यूह-रचना

सम्बन्धी बातें वह बड़ी रुचि से सुनती और अपनी स्वतंत्र सूझ-बूझ से कई नई चतुरतापूण बातें बताती थी। शौर्य और पराक्रम उसकी नस-नस में भरा हुआ था। शिवाजी के शौर्य की घटनाएँ उसे ज़बानी याद थीं। उसका कद-काठ बहुत अच्छा निकल आया था और वह अपनी अवस्था से बहुत बड़ी दिखाई देती थी। उसका चेहरा अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली था, और आँखों में विशेष प्रकार का दिव्य तेज झलकता था।

उन दिनों छोटी अवस्था में ही लड़कियों की शादी कर देने का रिवाज़ था। मोरोपन्त भी लड़की के लिए वर की खोज करने लगे। एक दिन पेशवा के दरबार में झाँसी का राज-ज्योतिषी दीक्षित पंडित आया। मोरोपन्त ने उसे मनु की कुंडली दिखलायी। देखते ही दीक्षित ने कहा कि यह तो रानी बनेगी। कुछ दिनों बाद मनुबाई का विवाह झाँसी के राजा गंगाधरराव से हो गया। यह बात सन् १८४२ की है। उस समय मनु की अवस्था आठ वर्ष की भी न हुई थी। विवाह के बाद मनु का नाम लक्ष्मीबाई हो गया।

उन दिनों अंग्रेज़ी राज्य ने प्रायः भारत की सभी छोटी-बड़ी रियासतों को हड़प लिया था। जो कुछ थोड़ी-सी बाकी रह गई थीं, उन्हें भी अंग्रेज़ शासक किसी न किसी बहाने से अंग्रेज़ी राज्य में शामिल करते जा रहे थे। वे सभी रियासतों के भीतरी मामलों में बहुत दखल देते थे। उन्हें शादी-विवाह, गोद लेना आदि कार्यों में भी अंग्रेज़ी राज्य की आज्ञा लेनी पड़ती थी। दिल्ली का बादशाह दुर्बल हो चुका था। बंगाल के नवाब, महाराष्ट्र के पेशवा और पंजाब के सिख अंग्रेज़ी राज्य के आगे घुटने टेक चुके थे। गंगाधरराव भी अंग्रेज़ी राज्य की मुट्ठी में थे। झाँसी की सेना भंग करके अंग्रेज़ों ने वहाँ अपनी सेना रखी थी, जिसका व्यय महाराज गंगाधरराव को देना पड़ता था।

गंगाधरराव वृद्ध हो चले थे। उनकी पहली रानी से कोई सन्तान न थी। इसीलिए उन्होंने मनुबाई से विवाह किया था। विवाह के नौ वर्ष बाद लक्ष्मीबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। झाँसी में इस अवसर पर भारी समारोह हुआ। किन्तु दुर्भाग्य से तीन महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। इस घटना से राजा गंगाधरराव को इतना धक्का लगा कि वे रोगशय्या पर पड़ गए।

मृत्यु से कुछ दिन पहले गंगाधरराव ने अपने एक सम्बन्धी के बालक आनन्दराव को गोद लेकर सम्पूर्ण सरकारी कार्यवाही पूर्ण कर दी। शास्त्रानुसार भी सारी विधि पूरी करके बालक का नाम दामोदरराव रखा गया। कुछ दिनों बाद गंगाधरराव की मृत्यु हो गई। उस समय लक्ष्मीबाई की अवस्था केवल १८ वर्ष की थी।

रानी ने अब राज-कार्य अपने हाथ में लिया। उसने योग्य और विश्वासपात्र अधिकारियों को साथ लेकर शासन चलाना आरंभ किया; किन्तु तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने गंगाधरराव की वसीयत स्वीकार न की। सन् १८५६ में उसने फरमान निकाला—"महाराज गंगाधरराव के दत्तक पुत्र को कम्पनी अस्वीकार करती है और झाँसी राज्य को लावारिस समझकर अंग्रेज़ी राज्य में मिला देने का हुक्म देती है। कम्पनी रानी लक्ष्मीबाई को ५००० रुपये वार्षिक पेन्शन देने का निर्णय करती है।"

अंग्रेज़ी शासन के इस निर्णय को सुनते ही रानी मूर्च्छित हो गयी। जब वह होश में आई तो चिल्लाने लगी—"नहीं-नहीं; मैं अंग्रेज़ों को झाँसी हर्गिज़ न दूँगी।"

परन्तु अंग्रेज़ी शासन की आज्ञा से रानी को तुरन्त ही किला खाली कर देना पड़ा। वह झाँसी शहर की तरफ हवेली में आकर रहने लगी। इस समय रानी अपना अधिकांश समय पूजा-पाठ में बिताने लगी। समय-समय पर उसके पास विश्वासपात्र लोग आते रहते थे। वे रानी को यथाशक्ति धन भेंट देते थे। उससे रानी चुपचाप सेना संगठित करने लगी।

८ मई सन् १८५७ को अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध गदर फूट पड़ा। इसमें हिन्दू-मुसलमान, राजा-रंक, सैनिक-असैनिक सभी सम्मिलित हो गए। मेरठ से विद्रोह की यह आग दिल्ली में पहुँची और अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह भी इसमें सम्मिलित हो गए। इसके बाद लखनऊ ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। शीघ्र ही झाँसी में भी यह आग फैल गई। स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों ने रानी लक्ष्मी-बाई के नेतृत्व में झाँसी के किले को घेर लिया। अंग्रेज़ी सेना ने कड़ा मुकाबला किया; किन्तु रानी लक्ष्मीबाई ने काले खां रिसाल-दार और अहमद हुसैन तहसीलदार को तुरन्त किले पर अधिकार

करने की आज्ञा दी। उन्होंने प्राणों पर खेलकर किले पर कब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़ों ने हथियार डाल दिये।

किले पर अधिकार करने के बाद रानी ने शासन संभाल लिया। प्रत्येक पद पर उसने योग्य अधिकारियों को नियुक्त किया। वह मर्दाने वेश में घोड़े पर सवार होकर राज्य में घूमती। वह जिधर ही जाती, उधर ही लोग उसके लिए आँखें बिछाते थे। सैनिकों को वेतन देने के लिए रानी के पास धन का अभाव था। उसने अपने सभी गहने और सोने-चाँदी के बर्तन बेचकर उनका वेतन चुकाया। थोड़े ही समय में उसने बड़ी योग्यता से शासन यंत्र का संचालन करने में सफलता प्राप्त कर ली। जब वह सिंहासन पर बैठती तो बहुत भव्य, आकर्षक और तेजस्विनी दिखाई पड़ती थी। मि० गिलीन ने लिखा है—"रानी की कंचुकी पर सुनहरी ज़रीदार कमर-पट्टा बँधा रहता था। उससे दमिश्क की बनी नक्काशीदार, चाँदी से मढ़ी पिस्तौल लटकती रहती थी। उसी के पास ज़हर-बुझा पेश-कब्ज़ भी रहता था। साड़ी के बदले वह ढीला पायजामा पहनती थी। इस सुन्दर रानी को इस पोशाक में देखकर लोगों को किसी युवक का भ्रम होता था।"

सदाशिव नामक एक युवक ने अपने को झाँसी का वास्तविक शासक घोषित करके एक सेना संगठित कर ली और झाँसी पर आक्रमण कर दिया। रानी ने बड़ी वीरता से प्रत्याक्रमण कर दिया। सदाशिव की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और वह भाग गया। यह संकट टला ही था कि ओरछा के राजा ने २० हज़ार सेना लेकर चढ़ाई कर दी। रानी के मंत्री और अधिकारी घबरा गए। परन्तु लक्ष्मीबाई असीम साहसी थी। मर्दाने वेश में युद्ध के लिए सुसज्जित होकर रानी ने उनसे कहा—"मैं स्त्री होकर भी युद्ध से विमुख नहीं हो रही हूँ; तुम तो पुरुष हो। मैं युद्ध से मुँह नहीं मोड़ूँगी और इस आक्रमण का सामना वीरता के साथ करूँगी।"

उस युद्ध में रानी इतनी वीरता से लड़ी कि ओरछा-नरेश को हारकर वापस लौटना पड़ा। इसके बाद रानी ने राज्य प्रबन्ध का सम्पूर्ण भार अपने हाथ में ले लिया। उसकी प्रजावत्सलता, शासन-कुशलता और न्यायप्रियता को देखकर सभी सराहना करने लगे।

रानी की दैनिक-चर्या बड़ी नियमित थी। ब्राह्ममुहूर्त में ठीक ५ वजे वह उठती, स्नानादि के उपरान्त पूजा-पाठ करती, भोजन के उपरान्त कचहरी चली जाती और सायंकाल तक मनोयोग-पूर्वक शासन-कार्य करती। अपने स्वर्गीय पति की गद्दी पर बैठकर अर्जियाँ सुनती और हुक्म देती। इस समय वह न्याय की अवतार दिखाई पड़ती थी। सायंकाल वह महालक्ष्मी के मंदिर में जाती और पूजन के उपरान्त दीन-दुखियों को अन्न, वस्त्र, धन आदि वाँटती थी।

विद्रोह के दमन के लिए कम्पनी ने इंग्लैंड से सर ह्यू रोज़ को वुलवाया। वह अत्यन्त योग्य कमाण्डर था। विद्रोह के दमन का काम उसे सौंपा गया था। उसकी कमान में वहुत वड़ी सेना दी गई थी। उत्तरी भारत में विद्रोह को शान्त करने के वाद उसने मध्यभारत की ओर ध्यान दिया। शीघ्र ही उसे इस वात का अनुभव हो गया कि जव तक झाँसी की रानी को हराया नहीं जाएगा, तव तक मध्यभारत में विद्रोह नहीं दवाया जा सकेगा। वहुत-से अंग्रेज़ शासकों का तो यह विचार था कि गदर का गढ़ ही झाँसी है। अतएव ह्यू रोज़ ने झाँसी पर आक्रमण करने की जिम्मेदारी स्वयं संभाली। एक विशाल सेना लेकर वह झाँसी की ओर वढ़ा।

रानी कोई आराम से वैठी हुई नहीं थी। वह पहले से ही तैयारी कर चुकी थी। जिधर से ह्यू रोज़ की सेना वढ़ रही थी, उस तरफ़ के खेत रानी की आज्ञा से जला दिये गये, जिससे अंग्रेज़ी फौज़ को दाना-पानी और चारा न मिलने पाये। एक वार तो अंग्रेज़ी सेना मुसीवत में फँस गई। किन्तु टीकमगढ़ के राजा और ग्वालियर नरेश सिंधिया ने हर प्रकार की सहायता भेजकर उसे वचा लिया। अव ह्यू रोज़ की सेना तीव्र गति से आगे वढ़ी। रानी ने भी थोड़े ही समय में उचित प्रवन्ध कर लिया। उसने लड़ाई की कमान संभाली। किले के वुर्जों पर ५१ तोपें शत्रु का स्वागत करने के लिए तैनात कर दी गईं। इनमें कड़क विजली, घनगर्ज और भवानी शंकर नाम की तोपें वहुत दूर तक मार करती थीं। गुलाम गौस खाँ रानी का विश्वासपात्र तोपची था। वह वहुत दिलेर और साहसी था।

उसने तोपों का सारा प्रवन्ध ठीक किया। रानी स्वयं रात-भर जागकर सारी व्यवस्था देखती रही। ह्यू रोज़ की सेना आगे वढ़ी, तो

झाँसी की तोपें आग उगलने लगीं। अंग्रेजी सेना को पीछे हटना पड़ा। ह्यू रोज़ ने अपनी तोपें आगे बढ़ायीं। किन्तु गुलाम गौस खाँ का प्रबन्ध ऐसा था कि अंग्रेज़ों की तोपें ठंडी पड़ गयीं। उन्हें फिर पीछे हटना पड़ा। तब ह्यू रोज़ ने अपनी सेना को तीन हिस्सों में बाँट कर तीन ओर से आक्रमण करने की योजना बनायी। तीन ओर से अंग्रेज़ी सेना आगे बढ़ी; किन्तु रानी के युद्ध-कौशल के आगे उनकी एक न चली। रानी स्वयं घूम-घूम कर सैनिकों और तोपचियों को उत्साहित कर रही थी।

आठ दिन बीत गए। शत्रु-सेना को कोई सफलता न मिली। तब उसने किले को छोड़कर झाँसी नगर में मार-काट और लूट-पाट मचा दी। रानी लक्ष्मीबाई तिलमिला उठी। उसने पेशवा को सहायता के सन्देश भेजे। तभी किसी देश-द्रोही ने अंग्रेज़ों को बता दिया कि पश्चिम की ओर से किले पर तोपों की मार अच्छी हो सकती है। इस भेद को पाकर अंग्रेज़ी सेना ने पश्चिम की तरफ से गोलाबारी शुरू कर दी। इससे किले का एक हिस्सा उड़ गया। किन्तु रानी ने शीघ्र ही तोपों का मुँह उधर फेर दिया और अंग्रेज़ी सेना को पुनः पीछे हटना पड़ा।

इसी समय पेशवा का वीर सेनापति ताँत्या टोपे आ धमका। उसने अंग्रेज़ी सेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण कर दिया। इससे पूर्व ताँत्या की सेना कई स्थानों पर अंग्रेज़ी सेना को हरा चुकी थी। उसके सैनिकों को बड़ा गर्व था कि हम अंग्रेजी सेना को मार भगाएँगे। ह्यू रोज ने पीछे मुड़कर ताँत्या की सेना को दो तरफ से घेर लिया। अन्ततः ताँत्या टोपे की सेना ठहर न सकी। अब ह्यू रोज़ की सेना ने पुनः तीन तरफ से आक्रमण किया। रानी की सेना को ताँत्या की हार से गहरी निराशा हुई थी। उस समय रानी ने सर-दारों तथा सिपाहियों में उत्साह फूँकते हुए कहा—'झाँसी की रक्षा आप लोगों के हाथ में है। पेशवा की सेना हमारी सहायता के लिए न आ सकी; किन्तु आप लोगों ने पहले जो विजय पायी है, वह किसी के सहारे नहीं पायी। पहले आप लोगों ने स्वाभिमान के साथ अपना नाम रखा है, उसी तरह अब भी रखना होगा।"

रानी के भाषण से सेना में पुनः उत्साह की लहर फैल गयी। सैनिक अपने प्राणों का मोह छोड़कर किले से बाहर आकर शत्रु-सेना

पर आक्रमण के लिए तैयार हो गए। रानी अपनी सेना में सबसे आगे थी। वह घोड़े पर सवार थी। मुँह में रास पकड़ी हुई थी। दोनों हाथों में दो तलवारें थीं। सिर पर पगड़ी बँधी हुई। रानी का यह रणचंडी रूप देखकर उसकी सेना उसकी जय-जयकार कर उठी। मैदान में उतरकर रानी ने दक्षिण की ओर धावा बोल दिया। गोरे सैनिकों के लिए इस आक्रमण का सामना करना असंभव हो गया। वे शहर की ओर भाग खड़े हुए और मकानों की आड़ से बन्दूकें चलाने लगे। इसी समय नगर की ओर से अंग्रेज़ी सेना का दूसरा दल आ पहुँचा और लक्ष्मीबाई की सेना पर दो ओर से गोला-बारी होने लगी। तब एक ७५ वर्षीय वृद्ध सरदार ने हाथ जोड़कर रानी से कहा—"अब आगे बढ़कर गोली चलाने का कोई लाभ नहीं है। इससे तो यही अच्छा है कि आप किले में जाकर भावी प्रबन्ध के लिए विचार करें।" रानी ने उसकी बात स्वीकार कर ली और किले के अन्दर जा पहुँची।

रानी के हटते ही अंग्रेज़ी सेना ने किले को घेर लिया। वे सीढ़ियाँ लगाकर किले की दीवारों पर चढ़ने लगे। झाँसी के सैनिक भी तक-तक कर निशाने मारने लगे।

शत्रु-सेना टिड्डी दल की तरह विशाल थी। अंग्रेज़ों को किले के सारे भेद देशद्रोही दूलाजी से मिल चुके थे। उन्होंने किले के फाटक के मुख्य रक्षक खुदाबख्श और तोपखाने के मुख्य अधिकारी गुलाम गौस खाँ को निशाना बनाया। इन दोनों के गिरते ही रानी की आशा पर तुषारापात हो गया। गोलाबारी से देखते ही देखते उसके बहुत से सैनिक वीरगति को प्राप्त हो गए। रानी को विश्वास हो गया कि झाँसी दुर्ग की रक्षा कर पाना कठिन है। एक वृद्ध सरदार ने रानी से कहा—"बाई साहब ! धीरज न खोइए। आप वीर महिला हैं। हमें शत्रुओं का घेरा तोड़कर शहर के बाहर निकल जाना चाहिए। कालपी में पेशवा की सेना पड़ी है। हम अभी भी उनकी सहायता ले सकते हैं।"

रानी को इस प्रस्ताव से मर्मान्तक पीड़ा हुई। उसने सरदारों तथा सिपाहियों से कहा—"आप लोग अपनी रक्षा के लिए यहाँ से जा सकते हैं, पर मैं तो गोला-बारूद के ढेर पर बैठकर आग लगा लूँगी—किन्तु जीते-जी अपनी झाँसी छोड़कर नहीं जाऊँगी।"

किन्तु परिस्थिति पल-पल बदल रही थी। अनुभवी सरदारों ने हाथ जोड़कर रानी से कहा—"स्वाधीनता संग्राम को चालू रखने के लिए आपका जीवित रहना जरूरी है। अब देर करने का समय नहीं है।" रानी ने संध्या होते ही किले से बाहर जाने का निर्णय कर लिया।

संध्या का अंधकार फैलते ही रानी मर्दाना पोशाक पहने, सिर पर साफा बाँधे, अपने दत्तक पुत्र दामोदरराव को पीठ से बाँधकर सफेद घोड़े पर सवार हुई और गुप्त द्वार से बाहर निकल गयी। उस समय उसके साथ विशेष विश्वासपात्र दो सौ सैनिक तथा कुछ सखियाँ थीं, जो घोड़े पर सवार थीं।

ह्य रोज़ को जब यह पता चला कि रानी निकल भागी है, तो उसने लेफ्टिनेंट बौकर को उसका पीछा करने के लिए भेजा। अंधेरी रात में बौकर रानी का पता न लगा सका, फिर भी उसने पीछा करना जारी रखा। रानी ने वहाँ से २१ मील दूर आकर विश्राम किया। स्नानादि करके जिस समय रानी भोजन कर रही थी, उसी समय बौकर का दल उसका पीछा करता हुआ आ पहुँचा। गुप्तचर के बताने पर रानी ने दूरबीन से देखा। वह खाना-पीना छोड़कर बालक को पीठ से बाँधकर तुरन्त घोड़े पर सवार हो गयी। किन्तु भाग निकलने का समय न मिला। बौकर के दल ने रानी और उसके साथियों को घेर लिया। उन्होंने रानी से शस्त्र धरने के लिए कहा। रानी रुकी नहीं, सीधी बौकर की ओर बढ़ी। तलवार के एक ही वार में बौकर ज़मीन पर औंधा आ गिरा। मौका देखकर रानी ने घोड़े को सरपट दौड़ाया। लगातार सौ मील तक घोड़े को सरपट दौड़ाती वह ११ बजे कालपी के किले के फाटक पर जा पहुँची।

किले में उस समय नाना साहब के भाई रावसाहब मौजूद थे। उन्होंने रानी का स्वागत किया। कालपी का किला बहुत दृढ़ था। स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों का यह बहुत बड़ा गढ़ था। यहाँ युद्ध-सामग्री भी पर्याप्त थी। रावसाहब ने संगठन का पूरा काम रानी के हाथों में सौंप दिया। रानी के आने से उत्साह की लहर-सी फैल गयी। बाँदा के नवाब और कानपुर के राजा भी अपनी-अपनी सेना सहित रानी के साथ आ मिले।

रानी ने वड़ी योग्यता और फुर्ती से सेना की व्यवस्था ठीक की। मोर्चाबन्दी, शस्त्रास्त्र संग्रह और रसद का प्रवन्ध व्यवस्थित किया। किन्तु शीघ्र ही रावसाहब को एक स्त्री की अधीनता में काम करना खटकने लगा। अंग्रेज़ी सेना कालपी की ओर वढ़ी। रानी ने कालपी से कुछ दूर आगे बढ़कर उसे रोकने का निश्चय किया। रावसाहव इस पर सहमत न हुए। रानी ने थोड़ी-सी सेना लेकर कोंच नामक स्थान पर अंग्रेज़ी सेना का सामना किया। रावसाहव ने साथ न दिया। उस समय ताँत्या टोपे वहाँ न था; अन्यथा वह अवश्य रानी का साथ देता और विप्लव का फैसला वहीं हो जाता। रानी की सेना को पुनः किले में लौट आना पड़ा।

दूसरे दिन रानी ने २५० घुड़सवारों को लेकर जमुना की तरफ रक्षा का भार संभाला। रावसाहव अपनी सेना सहित सामने से आगे वढ़े। किन्तु शत्रु सेना ने पीछे से उस पर हमला बोल दिया। रावसाहव की सेना मे भगदड़ मच गयी। यकायक रानी विजली की तरह शत्रु सेना पर टूट पड़ी। उसने शत्रु के तोपखाने पर हल्ला बोल दिया। शत्रु सेना के छक्के छूट गये। किन्तु नयी कुमुक आ जाने पर उनके दुबारा पाँव टिक गए। अंग्रेज़ों ने ऊँटों की तोपची सेना को आगे बढ़ाया। पेशवा की सेना के पैर उखड़ गए और कालपी हाथ से निकल गया। तब रानी ने कहा कि ग्वालियर पर कब्ज़ा किये विना अंग्रेज़ी सेना का मुकाविला करना असंभव है। रानी की बात सबने मान ली। ग्वालियर नरेश जयाजीराव सिंधिया अंग्रेज़ों का भक्त था। उसने कड़ा मुकावला किया। इसी समय ताँत्या टोपे ने भी सिंधिया का साथ देने वाले सैनिकों पर आक्रमण कर दिया। सिंधिया की सेना उससे विमुख हो गयी। उसने रानी का जय-जयकार करके किले में उसका स्वागत किया। सिंधिया धौलपुर की ओर भाग गया। किले पर रानी का कब्ज़ा हो गया। रानी ने नाना साहब को पेशवा घोषित किया। रावसाहब को नाना साहब का प्रतिनिधि बनाकर शासन-सूत्र उसके हाथों में सौंप दिया। किन्तु, सेना और खज़ाना पाकर रावसाहब और उसके साथी उत्सव और राग-रंग में मस्त हो गए। रानी और ताँत्या टोपे ने इस जश्न और जल्से को रोकने का बहुत प्रयत्न किया; किन्तु उनकी किसी ने न सुनी।

पन्द्रह दिनों में अंग्रेज़ी सेना ने पूरी तैयारी के साथ ग्वालियर

पर आक्रमण किया। जनरल ह्यू रोज़ और कर्नल नेपियर की कमान में उसने मुरार पर अधिकार कर लिया।

अब सबने रानी से कहा—"रानी जी! आपका ही भरोसा है। आपकी सूझ-बूझ से ही मोर्चाबन्दी हो सकेगी।"

रानी ने कहा—"आप लोग अपना कर्त्तव्य-पालन करें। मैं अपना फर्ज़ अदा करने से पीछे नहीं रहूँगी।"

रानी ने ग्वालियर आने वाले सभी रास्तों पर सेना की टुकड़ियाँ तैनात कर दीं।

मर्दों के बाने में रानी घोड़े पर सवार हुई। काशी और मन्दरा नाम की युद्ध-कुशल सखियों को साथ लेकर रानी युद्ध-क्षेत्र में उतरी। तलवारें चलने लगीं। बन्दूकें और तोपें आग बरसाने लगीं। रानी की व्यूह-रचना को तोड़कर ह्यू रोज़ आगे न बढ़ सका। इसी समय ब्रिगेडियर स्मिथ की कमान में नई अंग्रेज़ी सेना आ पहुँची। शत्रुओं के हौंसले बढ़ गए। रानी ने आगे बढ़कर स्मिथ का मार्ग रोक लिया। घमासान युद्ध हुआ। रानी का इस समय का शौर्य देखकर अंग्रेज़ों को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी और ह्यू रोज़ को भी कहना पड़ा—"हमारे शत्रुओं में सबसे योग्य सेनानायक रानी लक्ष्मी-बाई ही है।" सूर्यास्त तक घोर युद्ध होता रहा। रानी का प्यारा घोड़ा बुरी तरह घायल हो गया। फिर भी विजय रानी को ही मिली।

दूसरे दिन फिर घमासान युद्ध छिड़ गया। ह्यू रोज़ ने रानी की टुकड़ी को एक तरफ छोड़कर रावसाहब पर आक्रमण किया। राव-साहब की सेना पीछे हटने लगी। रानी अपनी टुकड़ी के साथ आगे बढ़ी; किन्तु वह अंग्रेज़ी सेना के घेरे में आ गयी। दोनों हाथों से तलवार चलाती उस रणचण्डी को देखकर शत्रु-सेना चकित रह गई। किन्तु रानी अपने दस-बारह साथियों सहित ही बचकर निकल सकी। उसके शेष सैनिक अन्त तक लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुए। गोरे सिपाहियों ने रानी का पीछा किया। वे गोलियां दाग रहे थे। रानी की एक सखी को गोली लगी और वह मरकर घोड़े से गिर पड़ी। रानी के पाँव पर भी गोली लगी। किन्तु वह नहीं चाहती थी कि उसका शरीर शत्रुओं के हाथ में पड़े। वह घोड़े को

सरपट दौड़ाती जा रही थी। जब अंग्रेज सैनिक पास आ गए तो रानी ने मुड़कर बन्दूक चलानी शुरू कर दी। उसने कुछ सैनिकों के सिर उड़ा दिए। इसी समय उसकी एक सखी मरकर गिर गयी रानी के पास पीछे देखने का समय न था। बचे-खुचे गिने-चुने साथियों सहित वह दौड़ी। आगे एक नाला आ गया। रानी का घोड़ा नया था। नाला देखकर वह अड़ गया। रानी के बचे-खुचे पाँच-छः साथियों ने मोर्चा बनाया। एक अंग्रेज़ सवार पास आया। रानी ने तलवार के एक ही वार से उसका सिर उड़ा दिया। इसी समय पीछे से एक अंग्रेज़ ने रानी के सिर पर तलवार का वार किया। रानी का आधा सिर कटकर धरती पर गिर पड़ा। अंग्रेज सैनिकों ने उसे घेर लिया। एक साथ कई वार होने पर रानी घोड़े से गिर पड़ी और वीर गति को प्राप्त हुई।

रानी के विश्वासपात्र अंगरक्षक रामचन्द्रराव उसके शव को उठाकर पास की एक कुटिया में ले गए। घास-फूस की चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया गया।

रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु पर सर ह्यू रोज़ ने कहा था—"शत्रु की ओर केवल एक ही मर्द योद्धा था और वह थी एक स्त्री—झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई।"

ह्यू रोज़ ने डायरी में रानी की सराहना में ये शब्द लिखे थे—

"महारानी का उच्च कुल, आश्रितों और सिपाहियों के प्रति उनकी असीम उदारता और कठिन से कठिन समय में भी अडिग धीरज—इन गुणों ने रानी को हमारा एक अजेय प्रतिद्वन्द्वी बना दिया था। वह शत्रु-दल की सबसे बहादुर और सर्वश्रेष्ठ सेना-नायिका थीं।"

: ४ :

लाला लाजपतराय

भारत के स्वाधीनता संघर्ष में सबसे पहले उग्रवादी अग्रगण्य नेताओं में लाल, बाल, पाल के नाम हमारे सम्मुख आते हैं। लाल—पंजाब के लाला लाजपतराय, बाल—महाराष्ट्र के बालगंगाधर तिलक और पाल—बगाल के विपिनचन्द्र पाल।

भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में इन तीनों के आगमन के बाद ही उग्रता आयी और आसेतु-हिमालय जनता जाग्रत होकर स्वाधीनता प्राप्ति के लिए छटपटाने लगी।

लाला जी के व्यक्तित्व का स्वरूप समझने के लिए उनकी यह उक्ति रह-रह कर सामने आ जाती है—

"मेरा मजहब हक-परस्ती है। मेरी मिल्लत कौम-परस्ती है। मेरी इबादत खलक-परस्ती है। मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है। मेरी जायदाद मेरी कलम है। मेरा मन्दिर मेरा दिल है। और मेरी उमँगें सदा जवान हैं।"

लाला लाजपतराय का जन्म उनके ननिहाल ढोडिकी नामक गाँव, ज़िला फिरोज़पुर में २८ फरवरी सन् १८६५ को हुआ। इनके पिता लाला राधाकृष्ण जगरावाँ के निवासी थे। वे सरकारी स्कूल में अध्यापक थे और क्रमशः दिल्ली, रिवाड़ी, रोहतक और अम्बाला में उनका तबादला होता रहा। कुछ समय बाद वे स्कूलों के इंस्पेक्टर हो गए थे।

चार वर्ष की अवस्था में लाजपतराय की शिक्षा प्रारम्भ हुई। जब ये १३ वर्ष के हुए तो इनका विवाह कर दिया गया।

कुछ समय दिल्ली में पढ़ने के बाद लाजपतराय लुधियाना के मिशन स्कूल में दाखिल हुए। परन्तु माता की निरन्तर अस्वस्थता

और पिता के शिमला रहने के कारण इन्हें स्कूल छोड़कर जगरावाँ लौट आना पड़ा। इस समय स्वतंत्रता से घर पर रहकर ही इन्होंने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ डालीं।

सन् १८८० में जब इनके पिता पुनः अम्बाला चले आए तो इन्हें फिर स्कूल में प्रविष्ट होने का अवसर मिला। अतः १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने एंट्रेंस पास किया। इन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और ये लाहौर जाकर एफ० ए० में पढ़ने लगे। ग्रीष्मावकाश में बहुत कठोर परिश्रम करने के कारण ये एफ० ए० में बहुत अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण हुए। कॉलेज में पढ़ते हुए ही ये मुख्तारी की परीक्षा में सफल हुए और जगरावाँ में आकर इन्होंने मुख्तारी का काम शुरू कर दिया।

सन् १८८५ में इन्होंने वकालत की परीक्षा पास कर ली और फिर रोहतक तथा हिसार में वकालत करते रहे।

वकालत के संकीर्ण क्षेत्र में ही इनकी प्रतिभा बन्द न रह सकी। ये आर्य समाज, म्यूनिसिपैलिटी और म्यूनिसिपैलिटी के द्वारा जन-सेवा का कार्य करने लगे। पब्लिक लाइब्रेरी, गौशाला और विद्यालय की भी इन्होंने स्थापना की। इनके हिन्दी भाषण इतने शुद्ध और ओजस्वी होते थे कि शीघ्र ही इनकी धूम मच गई। सन् १८८८ में ये बनारस कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए। उसमें इन्होंने जो भाषण दिया, उससे इनकी भाषण-शक्ति और राष्ट्रभक्ति से बड़े-बड़े नेता भी बहुत प्रभावित हुए।

सन् १८९२ में ये लाहौर में जाकर वकालत करने लगे। इनसे पूर्व १८८२ में लाहौर में डी० ए० वी० कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। हिसार और रोहतक में रहते हुए ही लाला जी यथाशक्ति इसकी सहायता किया करते थे। लाहौर में आने के बाद इन्हें डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी का अवैतनिक मंत्री और उसके बाद उपप्रधान बनाया गया। ये न केवल प्रबन्ध में ही सहायता देते थे; बल्कि स्वयं पढ़ाया भी करते थे।

अंग्रेजी राज्य द्वारा खोले गए स्कूलों के प्रभाव से उस समय हमारे नवयुवक यूरोपीय वेश-भूषा, खान-पान आदि से प्रभावित हो रहे थे। अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति को वे हीन दृष्टि से देखने लगे थे। लाला जी जैसे राष्ट्रपुरुषों ने इसका एक उपाय निकाला

कि राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाए कायम की जाएँ, जिनके द्वारा पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने पर भी विद्यार्थियों का हृदय भारतीय ही बना रहे। डी० ए० वी० कॉलेज भी इसी प्रकार की संस्था थी। लाला लाजपतराय की भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में असीम आस्था थी। अत: उन्होंने न केवल अवैतनिक रूप में वल्कि अपनी आय में से भी वहुत-कुछ व्यय करके डी० ए० वी० कॉलेज का काम किया।

सन् १८९६-९७ में, विहार में भयंकर दुर्भिक्ष फैला। उस समय लाला जी ने तन-मन-धन से जो सेवा की, उसके कारण सम्पूर्ण देश में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने धन-संग्रह किया। सहायता केन्द्र और अनाथालय खोले। उस समय वकालत से लाला जी की बड़ी आमदनी थी; परन्तु उन्होंने घोषणा की—"सादा जीवन के लिए आवश्यक व्यय लेकर शेष सारी आय सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करूँगा।" इस प्रतिज्ञा पर लाला जी आजीवन अटल रहे। वे डी० ए० वी० कॉलेज, अनाथालय, विधवाश्रम, दलितोद्धार सभा तथा अन्य कई संस्थाओं को जी खोलकर दान दिया करते थे। वे निर्धन विद्यार्थियों को ठीक सम्मति ही न देते थे, वल्कि धन से भी उनकी सहायता किया करते थे। सन् १८९९ में राजपूताना के भयंकर दुर्भिक्ष के समय लाला जी ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता का सारा काम संभाला और शीघ्र ही उनकी गणना अखिल भारतीय प्रसिद्धि वाले नेताओं में होने लगी।

विलायत में भारतीय स्वाधीनता के आन्दोलन का प्रचार करने के लिए सन् १९०२ में लाला जी इंग्लैंड गए।

कांगड़ा में भूकम्प आने पर इन्होंने सेवा का काम अपने हाथ में लिया। १९०७ में उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रदेश (अव उत्तर प्रदेश) में अकाल पड़ने पर इन्होंने पंजाव से सहायता के लिए स्वयंसेवक दल भेजे।

सन् १९०६ में व्रिटिश सरकार ने, भारत की जनता को अपने अधिकारों की व्याख्या करने के लिए प्रतिनिधि भेजने का आग्रह किया। पंजाव के प्रतिनिधि वनकर लाला जी इंग्लैंड गए। परन्तु इसका सारा खर्च उन्होंने अपने पास से किया। सार्वजनिक रुपया लेने से इन्होंने इनकार कर दिया। इंग्लैंड में इन्होंने भारतीय स्व-तंत्रता आन्दोलन के समर्थन में चालीस भाषण दिये। इससे वहाँ कई

उदार अंग्रेज़ों की आँखें खुल गयीं और वे भी भारत को स्वाधीनता देने के समर्थक बन गये।

सन् १९०६ में अंग्रेज़ी सरकार ने बंगाल के दो टुकड़े करने का प्रस्ताव किया। इसके विरुद्ध आन्दोलन में लाला जी ने महत्वपूर्ण भाग लिया।

सन् १९०७ में सरकार ने लगान में वृद्धि कर दी। किसानों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। ८ मई १९०७ को रावलपिंडी में विद्रोह हो गया। बहुत-से किसान राजद्रोह में पकड़े गये। लाला जी किसानों की पैरवी के लिए रावलपिंडी पहुँचे। अंग्रेज़ मैजिस्ट्रेट से उनकी कहा-सुनी हो गयी। मैजिस्ट्रेट की आज्ञा से रावलपिंडी के वकील गिरफ्तार कर लिए गये। लाहौर पहुँचने पर लाल जी को भी 'बंगाल रेगुलेशन' के अनुसार गिरफ्तार करके माँडले (ब्रह्मा) जेल में नज़रबन्द कर दिया गया। उस समय की अपनी मानसिक अवस्था के विषय में लाला जी ने लिखा है—

"...मैंने अपने अन्दर किसी तरह की मानसिक और नैतिक दुर्बलता का अनुभव नहीं किया। बचपन से ही मुझे परमात्मा पर पूर्ण श्रद्धा थी। यही भावना मुझे बल दे रही थी। मुझे अपनी तात्कालिक अवस्था में संकटों को सहने की अधिक शक्ति प्राप्त हुई। मैंने अपने आपको इस आत्मनिरीक्षण में अत्यन्त दृढ़ पाया। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि मुझे इन कठिनाइयों को सहन करने का बल दे और मुझ से जाने-अनजाने में कोई ऐसा कार्य न होने दे जिससे मातृभूमि की सेवा के मेरे उद्देश्य में किसी प्रकार की अड़चनें आयें या मेरा समाज किसी तरह अपमानित और लज्जित हो।"

लाला जी की गिरफ्तारी पर लोकमान्य तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले आदि नेताओं ने सरकार की बड़ी निन्दा की। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में इस पर भारी विवाद हुआ। अन्त में, छः महीने बाद ही सरकार इन्हें रिहा करने के लिए बाध्य हो गयी। नज़र-बन्दी के इस काल को लाला जी ने व्यर्थ ही नहीं गँवाया। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की, जिनसे भारतीय नवयुवकों में देशभक्ति और समाज-सेवा की भावना जगाने में बहुत सहायता मिली।

इन्हीं दिनों भारतीय कांग्रेस के नेता दो दलों—नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गये। गरम दल में लाला लाजपतराय,

वाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल – ये तीन नेता अग्रणी थे। ये तीनों नेता सिंह के समान गर्जना करने वाले थे। इन्हें काँग्रेस की ढुलमुल नीति और खुशामद करने का ढंग पसंद न था। तीनों नेता अपने भाषणों में आग उगलते थे और इन्होंने भारत में अंग्रेज़ी शासन की जड़ों को हिला दिया।

उधर गोपाल कृष्ण गोखले नरम दल के नेता थे। वे 'धीमे-धीमे चलने' और 'भद्र विनय' में विश्वास रखते थे। गरम दल वालों ने काँग्रेस का अलग जलसा किया और इसके अध्यक्ष अरविन्द घोष वनाये गये।

सन् १९०८ में उग्र क्रान्तिकारियों ने सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सरकार को उलटने का प्रयत्न किया। सरकार ने इस सम्बन्ध में तिलक और चिदम्वरम् पिल्लई आदि नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सरकार की इस दमन-नीति का प्रचार करने के लिए लाला जी विलायत गए। वहाँ लेखों, व्याख्यानों तथा मुलाकातों द्वारा इन्होंने भारत के लिए वड़ा काम किया। मिंटो-मार्ले सुधारों के समय लाला जी इंग्लैंड में ही थे। इन्होंने उसका डटकर विरोध किया।

सन् १९०९ में इनका काँग्रेस से मतभेद हो गया और इन्होंने हिन्दू महासभा की स्थापना की।

सन् १९१२-१३ में गाँधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह आरम्भ किया। सत्याग्रह में सहायता देने के लिये लाला जी ने पंजाव से चालीस हज़ार रुपये एकत्र करके गाँधी जी की सेवा में भेजे।

सन् १९१४ में लाला जी चौथी वार इंग्लैंड गए। वहाँ इन्होंने भारत की स्वाधीनता के पक्ष में वहुत-सा प्रचार किया। इनके भाषण इतने उग्र और ज्वाला भड़काने वाले थे कि सरकार ने इनका भारत में प्रवेश निषिद्ध कर दिया। उन्हीं दिनों प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ चुका था और व्रिटिश सरकार लाला जी को सवसे अधिक 'खतरनाक' भारतीय समझती थी; अतः वह किसी तरह भी लाला जी को भारत में आने की आज्ञा देने के लिए राजी न हुई। विवश होकर लाला जी को अमेरिका चले जाना पड़ा। अमेरिका में जाकर लाला जी चुपचाप नहीं वैठे। उन्होंने 'यंग इंडिया' नामक साप्ताहिक निकाला और 'इंडिया होमरूल लीग' की स्थापना की। इन्होंने 'भारत का राज-

नीतिक भविष्य' नामक पुस्तक लिखी। एक मिस मेयो नाम की अमेरिकन महिला ने 'मदर इंडिया' नामक एक पुस्तक लिखी थी। लाला जी ने उसके जवाब में 'अनहैपी इंडिया' (दुःखी भारत) पुस्तक लिखी। इसमें मिस मेयो द्वारा भारत पर किये गये आक्षेपों का मुँह-तोड़ उत्तर दिया गया था। अमेरिकी लोग भारत की स्वाधीनता का जो समर्थन करने लगे, इसका बहुत-कुछ श्रेय लाला जी को ही था।

सन् १९१९में जलियाँवाला बाग का हत्याकांड होने पर लाला जी तिलमिला उठे। वे भारत आने के लिए छटपटाने लगे। उन्होंने वाइसराय को लिख दिया—"मैं भारत आ रहा हूँ और यह मेरा अधिकार है, आगे चाहे कुछ भी हो।" इस बार सरकार उन्हें रोक न सकी और भारत आने पर लाला जी का सभी ने स्वागत किया। उसी वर्ष कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में लाला जी सभापति बनाये गये। यहीं गांधी जी का असहयोग का प्रस्ताव भारी बहुमत से पास हुआ। भारत में ब्रिटिश सरकार ने घोर दमन चक्र चला दिया। धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ होने लगीं। तीन दिसम्बर १९२१ को लाला जी को भी गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें अठारह मास की कैद की सज़ा दी गयी। जेल में क्षयरोग हो गया। सरकार के पिट्ठुओं ने लाला जी से क्षमा माँग कर रिहा होने के लिए कहा। लाला जी ने इस सलाह को घृणा से ठुकरा दिया। सन् १९२३ में लाला जी रिहा हुए। उस समय गांधी जी जेल में थे। और भी बड़े-बड़े नेता कैद थे। नेताओं के न होने से आन्दोलन शिथिल हो रहा था। कांग्रेस दो दलों में बँट चुकी थी। एक दल कौंसिल प्रवेश का समर्थक था। इसके नेता मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास थे। दूसरा दल कौंसिल प्रवेश का विरोधी था। इसके नेता राजाजी थे। भारी वाद-विवाद के अनन्तर कौंसिल-प्रवेश स्वीकार कर लिया गया।

सन् १९२१ में लाला जी ने लाहौर में राष्ट्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से 'राष्ट्रीय विश्वविद्यालय' (नेशनल यूनिवर्सिटी) की स्थापना की। इसके लिए वे प्रतिदिन १८ से २० घंटे तक कार्य करते थे। भाई परमानन्द आदि देशभक्त इसमें अध्यापन-कार्य करते थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह इसी विद्यालय में पढ़े थे। इस विद्यालय में शिक्षा के साथ-साथ सबसे बड़ी बात यह पढ़ाई

जाती थी कि देश की उन्नति के लिए विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकना अत्यन्त आवश्यक है।

सरकार लाला जी की हलचलों को अब सहन न कर सकी और ३ दिसम्बर १९२१ को इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। किन्तु इनके गिरफ्तार होने पर इतनी हलचल मची कि सरकार को कुछ दिनों बाद ही इन्हें छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। इनकी नस-नस में बिजली जैसी हलचल भरी रहती थी। बाहर आकर भी ये चुप न बैठे। नवयुवकों के हृदय को सब तरफ से हटाकर देश के काम की ओर लगाने में इन्होंने कुछ उठा न रखा। परिणाम यह हुआ कि ९ मार्च, १९२२ को इन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया। तब इन्हें दो वर्ष की कैद की सज़ा दी गयी। जेल में इनका क्षयरोग बढ़ गया। दिन पर दिन इनका स्वास्थ्य गिरने लगा। तब राष्ट्रीय समाचार-पत्रों में इनकी रिहाई के लिए जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। सरकार ने विवश होकर अगस्त, १९२३ में इन्हें रिहा कर दिया। जेल से आने के कुछ दिनों बाद ये काँग्रेस स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हो गए। सन् १९२५ में ये स्वराज्य दल की ओर से कौंसिल के सदस्य चुने गये। इन्हें पार्टी का उपनेता भी बनाया गया। किन्तु कुछ समय बाद पार्टी से मतभेद होने पर इन्होंने त्याग-पत्र देकर 'स्वतन्त्र काँग्रेस दल' का निर्माण किया। इनका इतना प्रभाव था कि एक बार ये दो स्थानों से चुनाव जीत गये।

कुछ समय बाद इन्होंने कौंसिल प्रवेश का बहिष्कार कर दिया। लाला जी ने सरकार के उपहास और व्यंग्य के लिए उत्तमचद नाई को खड़ा किया। सरकार-परस्त उम्मीदवार को उत्तमचंद ने भारी बहुमत से हरा दिया।

कुछ समय लाला जी काँग्रेस से दूर रहे। किन्तु फिर शीघ्र ही राजनीतिक क्षेत्र में इनकी दहाड़ सुनाई देने लगी। सारा देश इन्हें 'पंजाब केसरी' के नाम से जानता था।

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति संसार के सभी देशों की बढ़ती सहानुभूति को समाप्त करने के लिए सरकार ने साइमन आयोग नियुक्त करके विलायत से भेजा और कहा गया कि यह आयोग भारतीयों की माँगों की जाँच करेगा। काँग्रेस ने इस आयोग का विरोध किया। इस आयोग के अध्यक्ष सर जान साइमन थे। इस

आयोग में एक भी भारतीय न था। अतः कांग्रेस ने इसके बहिष्कार का फैसला किया।

यह कमीशन जहाँ-जहाँ भी पहुँचा, इसका काले झंडों से स्वागत किया गया। इसके विरोध में सब जगह भारी प्रदर्शन हुए। जगह-जगह लाठी-चार्ज करके सरकार ने इन प्रदर्शनों को कुचलने का प्रयत्न किया।

३० अक्तूबर, १९२८ को प्रातःकाल यह कमीशन लाहौर पहुँचा। शहर में दफ़ा १४४ लगा दी गयी थी। जगह-जगह सशस्त्र पुलिस तैनात कर दी गयी थी। लाला जी के नेतृत्व में भारी जलूस निकाला गया। यह जलूस 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाता हुआ स्टेशन पर पहुँचा। उसी समय अधिकारियों ने जलूस को तितर-बितर होने की आज्ञा दी। लाला जी ने कहा—"विरोध प्रदर्शन का हमें पूरा अधिकार है।" इस पर इतनी भीषण लाठी बरसायी गयी कि सैकड़ों लोग घायल हुए। लाला जी सबसे आगे छाती फुलाये लाठियों के वार झेल रहे थे। जब लालाजी पर अनेक लाठियाँ एक साथ पड़ने लगीं, तो रायजादा हंसराज आगे बढ़े और लाठियों का प्रहार अपने ऊपर लेने लगे।

उसी दिन सायंकाल मोरी गेट की विशाल जन-सभा में हमने उस घायल सिंह को दहाड़ते सुना और देखा—'मेरे ऊपर की गयी लाठी की एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफ़न की कील होगी।"

लाठियों के घाव घातक सिद्ध हुए। लाला जी चारपाई से उठ न सके और १९ नवम्बर, १९२८ के प्रातःकाल, लाहौर के गोल बाग के सामने, अपनी कोठी में लाला जी ने इस धराधाम को त्याग दिया। उनके देहावसान का समाचार सुनकर सब बाजार, स्कूल-कॉलेज कारखाने आदि बन्द हो गये। उनके अन्तिम दर्शनों के लिए अन्य शहरों और गांवों से भी लाखों लोग आये। रावी के तट पर जब लाला जी का दाह संस्कार किया गया, तो लाखों नर-नारियों की आंखों से आंसू बरस रहे थे।

लाला जी के निधन पर गांधी जी ने इस प्रकार अपने उद्गार व्यक्त किये थे—"लाला लाजपतराय जी तो एक संस्था थे। अपने यौवन-काल से ही उन्होंने देश-भक्ति को अपना धर्म बना लिया था।

उनका देश-प्रेम व्यापक था। वे देश के प्रेम को ईश्वर-प्रेम मानते थे। उनकी राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता से कम न थी। उनकी सेवाएँ बहु-मुखी थीं। वे बड़े उत्साही समाज-सुधारक और धार्मिक नेता थे। ऐसे किसी भी आन्दोलन का नाम लेना संभव नहीं, जिसमें लाला जी सम्मिलित न थे। सेवा करने की उनकी भूख अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण संस्थाएँ खोलीं। वे अछूतों के सच्चे मित्र थे। जहाँ कहीं दरिद्रता की पुकार सुनाई देती थी, वे वहीं पहुँचते थे।"

: ५ :

लोकमान्य तिलक

तिलक एक तत्त्वदर्शी राष्ट्र नेता थे। भारत में, जिस समय इस महान् पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय तक कांग्रेस एक राष्ट्र-व्यापी संस्था बन चुकी थी; किन्तु उसका कार्य और उद्देश्य था, भारतवासियों की शिकायतें वैध उपायों से भारत के अंग्रेज शासकों के सम्मुख रखना। कांग्रेस कोमल शब्दों में प्रस्ताव पास करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती थी। वह कठिनाइयों और कष्टों के मार्ग से घबराती थी। ऐसे समय में महाराष्ट्र-केसरी तिलक की गर्जना समस्त देश में, यहीं नहीं, विलायत तक गूँज उठी—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, और मैं इसे लेकर ही रहूँगा।" तिलक ही थे, जिन्होंने भारतीयों के आत्म-सम्मान को ललकारा और उन्हें आन्दोलित करके स्वराज्य-प्राप्ति के लिए व्याकुल कर दिया। उन्होंने बड़े तेजस्वी स्वर में कहा—"भिक्षा के बल पर कोई भी जाति जीवित नहीं रह सकती।" उन्होंने भारतवासियों से स्पष्ट कहा कि जातीय सम्मान, शक्ति एवं स्वावलम्बन—इन तीनों के आधार पर ही कोई समाज सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकता है। उन्होंने देश को बताया कि जो जाति मरने को तैयार हो जाती है, उसी का जीवन उज्ज्वल होता है। देश के लिए सर्वस्व अर्पण करने की तैयारी के बिना हम स्वातन्त्र्य सहस्र वर्षों में भी प्राप्त नहीं कर सकते। अपने भाषणों में वे अनेक बार कहा करते थे—"स्वराज्य पर, स्वतन्त्रता पर आपकी श्रद्धा न हो तो आप भारत में रहने योग्य नहीं।" साहस, निर्भयता, निष्कपटता, स्पष्टवादिता, कठोर परिश्रम-

शीलता, निरन्तर अध्ययनशीलता, अनुपम विद्वत्ता, त्याग और बलिदान की भावना—ये थे उनके गुण, जिनके कारण वे अपने समय में भारत के सर्वोपरि नेता बन गये थे। उनके व्यक्तित्व को एक वाक्य में—'जलता हुआ अग्नि-पिण्ड' माना जाता था। सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम में असफल होने के उपरांत जो भारतीय आत्मा सुप्त हो गयी थी, उसे तिलक ने जागरण का संदेश दिया। उनके हृदय में देश की आजादी के लिए एक बेचैनी, एक तड़प, एक व्याकुलता विद्यमान थी। उनके भाषणों और लेखों से तूफान आ जाता था। गाँधी जी के मन में तिलक के प्रति इतना आदर था कि वे इन्हें 'भगवान् तिलक' कहा करते थे।

महाराष्ट्र के 'कोंकण' नाम से प्रसिद्ध भाग के रत्नागिरि जिले में २३ जुलाई, १८५६ में तिलक का जन्म हुआ। इनके पिता श्री गंगाधर रामचन्द्र तिलक संस्कृत के विद्वान थे और एक स्कूल में अध्यापक थे। बाद में वे उन्नति करते-करते स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये थे। तिलक की माता का नाम पार्वतीबाई था। तिलक के जन्म होने पर परिवार में बहुत खुशी मनायी गयी थी; क्योंकि इनका जन्म तीन कन्याओं के बाद हुआ था। बालक का नाम बलवन्त रखा गया था; किन्तु प्यार से सभी इन्हें 'बाल' कहकर पुकारते थे। यही नाम अन्त में प्रसिद्ध हो गया। महाराष्ट्र में पुत्र के नाम के बाद पिता का नाम लगाने का रिवाज है। इसी के अनुसार तिलक का पूरा नाम बाल गंगाधर तिलक था।

जैसा कि बताया जा चुका है, तिलक के पिता संस्कृत के विद्वान् थे और माता भी विदुषी थीं; अतः आरम्भ में इन्हें घर पर ही संस्कृत के श्लोक स्मरण कराये जाते थे। पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया। दस वर्ष की अवस्था में ये पूना में सिटी स्कूल में जाकर पढ़ने लगे। ये जितने परिश्रमी थे, उतने ही तीव्र तथा प्रखर बुद्धि वाले थे। संस्कृत और गणित में आठ वर्ष की अवस्था में ही इतने योग्य थे कि अध्यापक चकित रह जाते थे। इनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। प्रतिदिन नियमपूर्वक व्यायाम करते थे। स्नान के उपरान्त पूजा-पाठ अवश्य करते थे और फिर डटकर पढ़ाई करते थे। शिवाजी की शौर्यगाथा इन्हें घुट्टी में मिली थी। बाद में सन् १८५७ की क्रान्ति इनके बाल्यकाल में घटित हुई।

उसमें चितपावन ब्राह्मणों ने बहुत काम किया था। तिलक भी चितपावन ब्राह्मण थे; अतः स्वतन्त्रता, वीरता और निर्भयता की भावनाओं को इन्होंने बहुत छोटी अवस्था में ही हृदयंगम कर लिया था। विद्यार्थी जीवन में ही अपने मित्र तथा सहपाठी आगरकर के साथ तिलक ने यह निश्चय कर लिया था कि सरकारी नौकरी कभी नहीं करेंगे और स्वतन्त्र रहकर जीवन भर देश की सेवा करेंगे।

तिलक ने इस निश्चय का पूरी तरह पालन किया और पचास वर्ष की अनवरत साधना, तपस्या और त्याग द्वारा इन्होंने देश की पूर्ण स्वाधीनता की नींव डाली।

छात्रावस्था में ही तिलक में स्वदेशाभिमान की तीव्र भावना थी। वे पश्चिमी सभ्यता के पुजारी अपने अध्यापकों तथा इसी विचारधारा वाले छात्रों का मजाक उड़ाया करते थे और उन पर तीव्र व्यंग्य कसा करते थे। उन्होंने अपने विचारों के प्रभाव से एक बहुत बड़ी मंडली अपने चारों ओर बनाई हुई थी। इनकी मंडली के छात्र इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनकी मँडली के लोगों का काम था नाज-नखरे और शृंगार में लगे रहने वाले छात्रों का उपहास करना, व्यायाम, खेल-कूद और कुश्ती में भाग लेना और फिर डटकर पढ़ना-लिखना। तिलक जिस किसी काम में लगते थे, उसे पूरे मन से करने में विश्वास रखते थे, किसी भी काम को शिथिलता से या असावधानी से करना उन्हें पसन्द न था। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी और भारतीय इतिहास का उन्हें मार्मिक ज्ञान हो गया था। सन् १८७२ में उन्होंने मैट्रिक पास की और १८७६ में डेक्कन कालेज से आनर्स सहित बी० ए० प्रथम श्रेणी में पास की। सन् १८७७ में ये गणित की एम० ए० में प्रविष्ट हुए; किन्तु बाद में एल-एल० बी० में प्रविष्ट हो गए और सन् १८७९ में योग्यता-पूर्वक परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। सरकारी नौकरी न करने का प्रण कर चुके थे, वकील का पेशा भी उन्हें पसन्द न आया। अपने दो मित्रों—आगरकर तथा चिपलूणकर के सहयोग से पूना में इन्होंने एक स्वतन्त्र स्कूल खोला। इसका नाम 'न्यू इंग्लिश स्कूल' रखा। इस स्कूल में अंग्रेजी भाषा अवश्य पढ़ाई जाती थी, किन्तु अन्य सब बातों में—परिधान, खान-पान, उठना-बैठना, व्यवहार-बातचीत में भारतीय संस्कृति और सभ्यता अपनाने पर जोर दिया जाता था।

इस स्कूल से इन्हें मात्र तीस रुपये मासिक की आय थी। किन्तु तिलक जैसे त्यागी को धन का लोभ छू न गया था। एक बार इनके मित्रों ने इनसे कहा—'इस तरह तो हम उतने पैसे भी न बचा सकेंगे, जिनसे मरने पर हमारा अग्नि संस्कार हो सके।" तब उत्तर में तिलक ने निश्चिन्तता से कहा था—"इसकी चिन्ता जितनी समाज को होनी चाहिए, उतनी मुझे नहीं है। समाज को गरज होगी तो वह हमारी लाश फूँक देगा। सम्मान के लिए नहीं, तो कम से कम बदबू हटाने के लिए तो वह अवश्य हमारी लाश जला देगा।" इससे तिलक के मन की दृढ़ता, कर्त्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा और निर्लोभिता स्पष्ट प्रकट होती है। तिलक के व्यक्तित्व के प्रभाव से तीन महीने में ही न्यू इंग्लिश स्कूल के छात्रों की संख्या पाँच सौ तक पहुँच गयी थी। चार वर्ष के काल में यह संख्या एक हज़ार से अधिक हो गयी। सन् १८८४ में इन्होंने दक्षिण शिक्षा समिति की स्थापना की। तिलक के तिरन्तर प्रयत्नों के कारण १८८५ में यही स्कूल फर्ग्युसन कॉलेज के रूप में विकसित हुआ। इस प्रकार तिलक ने महाराष्ट्र के शिक्षा-जगत् में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह को रोकने की दिशा में तिलक का यह पहला कदम था।

स्कूल खोलने के एक वर्ष बाद; अर्थात् सन् १८८१ में ही इन्होंने मराठी में 'केसरी' तथा अंग्रेजी में 'मरहटा' नामक साप्ताहिक पत्रों की स्थापना कर दी थी। पैसा पास न था; किन्तु साहस में कुछ कमी न थी। इन पत्रों का उद्देश्य था भारतीय जनता में नवयुग का सन्देश पहुँचाना, भारतीय स्वाधीनता के लिए आवाज उठाना और हर अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना। अँग्रेजी सरकार की नजरों में इनके दोनों पत्र बुरी तरह खटकने लगे थे; क्योंकि अब तक सारे देश में किसी ने इस प्रकार की निर्भीकता और स्पष्टवादिता से सरकार की आलोचना न की थी। कर्त्तव्य के प्रति इनकी सच्ची लगन इससे प्रकट होती है कि उस समय इनके पास कोई ठाठ-बाट न था, पत्रों से इन्हें कानी कौड़ी भी नही मिलती थी, बिछौने को लपेट कर ये उसी पर लिखने बैठ जाते थे; किन्तु इनके लेखों में किसी प्रकार की न्यूनता न आती थी। इस साधारण पत्रकार ने अपनी असाधारण तजस्विता से ब्रिटिश शासन को थर्रा दिया था।

सन् १८८२ में तिलक ने, कोल्हापुर राज्य की शासन-सम्बन्धी

त्रुटियों पर कटु आलोचना 'केसरी' में प्रकाशित की । इसके कारण इन पर तथा इनके मित्र आगरकर पर मुकद्दमा चलाया गया और दोनों को चार-चार मास का कारावास दण्ड मिला। जेल से बाहर आने पर जनता ने इन दोनों का जय-जयकार किया और इसी समय से ये महाराष्ट्र की जनता के प्रिय नेता बन गये। तिलक अब अंग्रेज़ी राज्य के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने वालों के अग्रणी बन गए। किसी भी छोटी या बड़ी घटना पर ये अपने पत्रों में स्पष्ट लेख लिखते और सरकार तिलमिलाकर रह जाती; क्योंकि इनके तर्क और प्रमाण अकाट्य होते थे। सन् १८८८ में एक बड़ी घटना हुई, जिसने तिलक को लोकनायक बना दिया एक अंग्रेज अफसर क्राफ़र्ड पर रिश्वत लेने का अभियोग लगाया गया। उसके साथ कुछ हिन्दुस्तानी तहसीलदारों पर भी मुकद्दमा चलाया गया। सरकार ने एक जांच-समिति बना दी। इसमें केवल अंग्रेज थे। तिलक ने इसका विरोध किया। बाद में जांच समिति ने गोरे क्राफ़र्ड को तो मुक्त कर दिया; परन्तु हिन्दुस्तानी अधिकारियों को दोषी करार दे दिया और अदालत ने उन्हें कैद की सजा दे दी। तिलक ने इसे पक्षपातपूर्ण भेदभाव माना और इस अन्याय का घोर विरोध किया। तिलक का मत था कि गोरी चमड़ी के कारण क्राफ़र्ड को छोड़ दिया गया है और हिन्दुस्तानी होने के कारण ही इन भारतीय अफसरों को फँसाया गया है। तिलक का यह प्रथम आन्दोलन था, जिससे जनता पूरी तरह इनकी ओर आकर्षित हुई और इस आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया।

तिलक देश के नवयुवकों को सैनिक शिक्षा देने के पक्षपाती थे। इन्होंने अपनी सैनिक-शिक्षा योजना फर्ग्युसन कॉलेज में लागू करनी चाही, किन्तु साथियों के साथ मतभेद होने पर इन्होंने १८९० में दक्षिण शिक्षा समिति से त्यागपत्र दे दिया।

अब इनका सम्पूर्ण समय सार्वजनिक कामों में लगने लगा। सन् १८९३ में 'गणेश-उत्सव' आरम्भ किया और १८९४ में 'शिवाजी उत्सव' चलाया। इन दोनों उत्सवों के अवसर पर राज-नीतिक विषयों पर विचार, वाद-विवाद और भाषण आदि होते थे। इससे जनता को भारी संख्या में जलूस निकालने और सभा करने का मौका मिल गया और धार्मिक रूप होने के कारण सरकार इन-

एक इन उत्सवों में हस्तक्षेप भी नहीं कर सकती थी। किन्तु अंग्रेजों के मन में यह बात बैठ गयी कि तिलक उनके राज्य के 'खतरनाक' शत्रु हैं।

सन् १८९५ में इन्होंने बम्बई प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउंसिल (विधान सभा) का चुनाव जीत लिया। काउंसिल में आप बड़ी योग्यता और निर्भीकता से जनता के अधिकारों का समर्थन करने और सरकार की धज्जियाँ उड़ाने लगे। इसी समय से देश इन्हें 'लोकमान्य' कहने लगा।

सन् १८९६ में महाराष्ट्र अकाल-ग्रस्त हो गया। लोकमान्य ने 'केसरी' पत्र द्वारा अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए जोरदार आन्दोलन चलाया और सहायता समिति गठित करके ग्राम-ग्राम सहायता-कार्य के लिए कार्यकर्ता भेजे। इन्होंने स्थान-स्थान पर सस्ते अनाज की दुकानें खुलवायीं। इन्होंने स्वयं गाँव-गाँव का दौरा किया और सहायता-कार्य का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलाया। इससे इनकी लोकप्रियता प्रचण्ड सूर्य की भाँति चमक उठी। इससे सरकार घबरा उठी और उसने पुलिस तथा सरकारी कर्मचारियों के द्वारा इनके सेवा-कार्य में अधिक से अधिक बाधा डालने का प्रयत्न किया। तिलक ने जनता को संगठित होकर परस्पर सहायता करने का उपदेश दिया और 'केसरी' पत्र द्वारा सरकार के अनुचित कार्यों की कठोर आलोचना की।

सन् १८९७ में महाराष्ट्र में भयंकर प्लेग फैल गयी। रोग की रोकथाम के नाम पर सरकारी अधिकारी और गोरे सैनिक जनता पर मनमाने अत्याचार करने लगे। तिलक ने 'केसरी' पत्र द्वारा इन अत्याचारों की निर्भयता से आलोचना की। कुछ गोरे सैनिकों ने स्त्रियों से छेड़-छाड़ की और उनका अपमान किया इससे उत्तेजित होकर एक मनचले नवयुवक चापेकर ने प्लेग कमेटी के अध्यक्ष मि० रैंड की हत्या कर दी। इससे सब जगह बड़ी सनसनी फैल गयी। अंग्रेजी सरकार ने इसे 'राजनीतिक हत्या' माना और इसे केसरी में प्रकाशित हुए लोकमान्य के लिखे लेखों का ही परिणाम कहा। सरकार ने लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का अभियोग चलाया और इनके लेखों के कुछ अंशों के आधार पर इन्हें १४ सितम्बर १८९७

१८ महीने कैद की सज़ा दे दी गई। इस सज़ा के विरुद्ध जनता ने अपील आदि का प्रयत्न किया किन्तु सरकार टस से मस न हुई। इससे समस्त भारत की जनता अत्यन्त क्रुद्ध हो उठी। स्थान-स्थान पर विरोध-सभाएँ हुईं। जर्मनी के संस्कृत साहित्य के विद्वान मैक्स-मुलर ने भी इसके विरुद्ध आवाज उठाई। परिणाम यह हुआ कि सरकार ने उन्हें एक वर्ष की सज़ा भुगतने के बाद रिहा कर दिया।

जेल से आने के बाद तिलक के लेख और भाषण और भी उग्र होने लगे। नाक रगड़कर आज़ादी माँगने के वे घोर विरोधी थे। काँग्रेस में उन दिनों नरम दल वालों का प्रभुत्व था; किन्तु तिलक को यह नीति न सुहाती थी। उन्होंने अपना एक अलग गरम दल बनाया। सरकार ने बंगाल के दो टुकड़े करने का निर्णय किया। इसके विरुद्ध बंगाल ही नहीं, सारा देश उठ खड़ा हुआ। बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय ने सन् १९०७ में गरम दल को काँग्रेस से अलग करके, सरकार के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। अन्त में सरकार को बंग-विभाजन का निर्णय वापस लेना पड़ा।

बंग-भंग के विरोध में तिलक ने विदेशी सरकार के मूलोच्छेद के लिए 'केसरी' और 'मरहटा' में अत्यन्त उग्र लेख लिखे। उन लेखों के आधार पर सरकार ने उन पर 'राजद्रोह' का अभियोग लगाया और उन्हें छः वर्ष के लिए देश निकाले की तथा एक हज़ार रुपये जुर्माने की सज़ा दी गई। उस समय तिलक ने यह वक्तव्य दिया—

' निर्णायकों ने मुझे दोषी ठहराया है, किन्तु अपनी अन्तरात्मा में मैं अपने आपको निर्दोष पाता हूँ। मानवीय शक्ति से ऊपर दैवी शक्ति है। हमारा भविष्य उस शक्ति के हाथ में है। सम्भव है, दैव की यही इच्छा हो कि मैं बाहर रहने के बदले कारागार में राष्ट्र की अधिक सेवा कर सकूँगा।"

लोकमान्य को बर्मा की मांडले जेल में नज़रबन्द कर दिया गया। इस जेल-जीवन में लोकमान्य ने चार सौ से अधिक विशिष्ट ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्होंने बहुत-सी विदेशी भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में हुआ और उनकी गीता पर सबसे श्रेष्ठ व्याख्या 'गीता-रहस्य' की रचना भी कारागार में ही हुई। तिलक के 'गीता-रहस्य' पर भारत ही नहीं,

संसार के अनेक विद्वानों ने उनकी विद्वत्ता की मुक्तकंठ से सराहना की। कुछ विद्वानों ने लोकमान्य तिलक से आग्रह किया कि वे राजनीति त्यागकर इतिहास-शोध के कार्य में लग जाएँ, तो देश को अमर कृतियाँ प्रदान कर सकते हैं। लोकमान्य तिलक का यह उत्तर था—

"भारतीयों की बुद्धि वन्ध्या नहीं हो गई है। स्वराज्य मिलने पर हज़ारों पंडित पैदा हो जाएँगे। आज तो देश की पुकार पर दौड़ पड़ने की आवश्यकता है। आज तो हमें अपनी बुद्धि, शक्ति और सर्वस्व स्वराज्य के अर्पित करना है।"

सन् १९१२ में, जेल में ही उन्हें अपनी पत्नी के देहान्त का तार मिला। उनके दृढ़ हृदय को भी इससे आघात लगा। तार का उन्होंने जवाब दिया—

"तार मिला। भारी आघात लगा। मैं संकटों को शान्तिपूर्वक सहन कर लेता हूँ; किन्तु इस समाचार ने तो भूकम्प के समान झकझोर दिया है। मुझे इस बात का दुःख है कि उसके अन्तिम क्षणों में मैं उसके पास न था। मेरे जीवन का एक भाग समाप्त हुआ। ऐसा लगता है, अब दूसरा अध्याय भी शीघ्र ही समाप्त होगा।......उसकी अस्थियाँ गंगा में प्रवाहित करना। उसकी अन्तिम इच्छा को पूर्ण करना। बालकों को कहना कि इस विपत्ति से स्वावलम्बन का पाठ सीखें।"

लोकमान्य तिलक १९१४ में, अपने दंड की अवधि पूर्ण करके, जेल से मुक्त हुए। इस बीच देश में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। अंग्रेज़ों के सामने महायुद्ध का संकट आ खड़ा हुआ था। गाँधी जी ने इस युद्ध में बिना शर्त अंग्रेज़ों की सहायता करने का समर्थन किया। परन्तु लोकमान्य तिलक ने इसका प्रबल विरोध किया। इन्होंने स्वराज्य का नारा बुलन्द किया और देवी एनीबेसेंट के सहयोग से 'स्वराज्य-संघ' की स्थापना की और 'होमरूल' आन्दोलन चलाया। इसके लिए इन्होंने देश के कोने-कोने में यात्रा की और एक-एक दिन में अनेक बार भाषण करते हुए, जनता की सुप्त शक्ति को झकझोर कर जाग्रत कर दिया। इसी समय इन्होंने अंग्रेज़ी शासन को ललकार कर कहा—

"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।"

गांधी जी तो प्रथम महायुद्ध में बिना शर्त अंग्रेजों की सहायता करने के पक्षपाती थे; किन्तु कुछ अन्य नेताओं ने तिलक के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के समाप्त होने पर भारतीयों को कुछ अधिकार देने का वचन दे तो उसकी सहायता की जाए। इसके उत्तर में तिलक ने कहा—

"इस सरकार की नीयत का भरोसा नहीं। यह जितनी भलाई हमारे साथ दिखलाए, उतना ही सहयोग हमें देना चाहिए।"

जब अंग्रेजों की सहायता करने के लिए इन पर बहुत दबाव डाला जाने लगा, तो इन्होंने उन नेताओं के समक्ष अपनी गम्भीर वाणी में कहा—

"आज तुम्हारे हाथ में सुयोग है। इसे छोड़कर तुम आने वाली पीढ़ियों का अभिशाप अपने ऊपर मत लो। तुम्हारी अकर्मण्यता पर भावी सन्तानें तुम्हें कोसेंगी। साहस से काम लो। चूको मत, लोहा गर्म है, अभी चोट करो।"

महायुद्ध के अनन्तर जब ब्रिटिश सरकार ने 'रौलट ऐक्ट' भारतीयों को उपहार में दिया, मार्शल ला लागू हुआ और जलियांवाला बाग का भीषण हत्याकांड हुआ, तब गांधी जी को भी दूरदर्शी तिलक के कथन की सत्यता स्वीकार करनी पड़ी थी।

युद्ध के दौरान 'स्वराज्य आन्दोलन' चलाने के कारण सरकार इन पर बेतरह क्रुद्ध हुई और सन् १९१६ में इन पर पुनः राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। परन्तु सरकार इन पर लगाए आरोपों को प्रमाणित न कर सकी।

जिस समय लोकमान्य तिलक मांडले जेल में थे, उसी समय वेलंटाइन शिरोल नामक एक अंग्रेज ने 'इंडियन अनरेस्ट' एक पुस्तक लिखी थी। उसमें भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन, क्रान्तिकारी आन्दोलन और लोकमान्य तिलक पर आक्षेप किये गए थे। तिलक पर ये आरोप लगाए गए थे कि हिंसावादी हैं तथा मुसलमानों के विरोधी हैं। शिरोल ने और भारतीयों पर भी असभ्यतापूर्ण आक्षेप किये थे। तिलक को अपमान असह्य था। शिरोल पर अभियोग चलाने के लिए उन्होंने इंग्लैंड जाने का निश्चय किया; यद्यपि इसी वर्ष (१९१८ में) वे दिल्ली कांग्रेस अधिवेशन के लिए राष्ट्रपति (कांग्रेस के अध्यक्ष) चुने गए थे; परन्तु वे अपने निश्चय पर अटल रहने वाले

व्यक्तियों में से थे। विलायत जाकर इन्होंने शिरोल पर मान-हानि का दावा दायर कर दिया। भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने शिरोल के समर्थन में तमाम सरकारी कागज़ देकर एक बड़े अधिकारी को विलायत भेजा। अंग्रज़ी सरकार ने इस प्रश्न को देश की प्रतिष्ठा का विषय बना लिया। यद्यपि इसमें लोकमान्य तिलक हार गए; किन्तु विलायत में ही इन्होंने भारतीय स्वराज्य का आन्दोलन चला दिया। इनके प्रभावशाली भाषणों से वहाँ के बड़े राजनीतिज्ञ और जनसाधारण भी काफी प्रभावित हुए। लोकमान्य ने लंदन में भारतीय काँग्रेस की शाखा को भली-भाँति संगठित किया। इन्होंने ब्रिटिश लेबर पार्टी को पचास सहस्र रुपये की राशि 'भारतीय स्वाधीनता के लिए आन्दोलन' करने के लिए प्रदान की। उन्हीं दिनों भारत में लोकमान्य तिलक की ६० वीं वर्षगाँठ बड़े समारोह से मनाई गई। इस अवसर पर इंग्लैंड की जनता ने, इनके सम्मान में एक लाख रुपये की थैली इन्हें अर्पित की। यह पूरी की पूरी धनराशि तिलक ने 'होमरूल लीग' को प्रदान कर दी।

सन् १६१६ के काँग्रेस अधिवेशन में तिलक ने प्रजातंत्रीय स्वराज्य दल स्थापित करने की घोषणा की। किन्तु इस घोषणा के छः मास बाद ही, ३१ जुलाई, १६२० को इनका देहान्त हो गया। इनकी अन्तिम यात्रा के साथ पाँच लाख की भीड़ थी। इसमें सभी मज़हबों के स्त्री-पुरुष थे। आबाल-वृद्ध-वनिता शोकाकुल थे। लोग ज़ार-ज़ार रो रहे थे। अन्तिम संस्कार के समय एक मुसलमान युवक तो भावावेश में आकर चिता में कूद पड़ा! बड़ी मुश्किल से ही उसे बाहर निकाला गया।

तिलक स्वदेश के सच्चे उपासक थे। उन्होंने लिखा था—"ईश्वर और स्वदेश भिन्न नहीं।" भाषा के सम्बन्ध में उनका मत था—"भाषा राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग है और एक भाषा होना राष्ट्रीयता की निशानी है। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि हमारे देश के छोटे-बड़े लोगों को अपने विचारों से परिचित कराना हो, तो उसके लिए स्वभाषा के अतिरिक्त कोई साधन नहीं हो सकता।" जाति भेद के विषय में उनका कथन था—"कोई बढ़ई हो या बनिया, कृषक हो या कसाई; उसकी श्रेष्ठता उसके व्यवसाय या जाति पर नहीं, उसके अन्तःकरण की शुद्धि पर

निर्भर करती है।" अस्पृश्यता के बारे में उनका कथन था—"इसे (छुआछूत को) यदि हम रहने देते हैं तो······परमात्मा के दरबार में हम जघन्य पाप कर रहे हैं।······भगवान् यदि अस्पृश्यता मानता है तो मैं उस भगवान् को मानने को तैयार नहीं।" लोकमान्य ने हिन्दू-मुसलमान की एकता पर कहा था—"हिन्दू और मुसलमान आज एक ही दामन में बँधे हैं। उनकी आपसी हाथापाई से उन्हीं का नुकसान अधिक हो सकता है।" लोकमान्य तिलक का यह मन्त्र था—"भिक्षा के बल पर कोई जाति जीवित नहीं रह सकती।"

o

: ६ :

अब्राहम लिंकन

सन् १८३३ में अमेरिका के इलीनॉय प्रान्त की विधान-सभा का चुनाव होने वाला था। न्यू सलेम गाँव के सभामंच पर एक दुबला-पतला ६ फुट २ इंच का सीधा और साधारण मनुष्य आ खड़ा हुआ। वह भी एक उम्मीदवार था। उसके कपड़े बहुत सादे थे; आकृति कुरूप-सी थी। गाल अन्दर पिचके हुए थे और दाढ़ी बढ़ी हुई थी। उसने छोटा-सा भाषण दिया और भाषण के अन्त में कहा—"यदि मैं चुनाव में जीत गया तो आपको धन्यवाद दूँगा और यदि न चुना गया तो भी धन्यवाद दूँगा।" कुछ लोगों ने मज़ाक उड़ाया—"इतना सीधा-सादा आदमी भी चुनाव और राजनीति के अखाड़े में कभी जीत सकता है! वह सज्जन है; परन्तु जीत नहीं सकता।" और लोगों की यह बात सच हुई। वह चुनाव में हार गया। किन्तु एक ही वर्ष में लोगों ने दुबारा चुनाव होने पर उसे सिर-आँखों पर उठा लिया। सन् १८३४ में वह विजयी हुआ। यही नहीं, बाद में वह अमेरिका का राष्ट्रपति बना। उसने अनेक कष्ट उठा कर अपना प्रण पूर्ण किया और अपने देश से दास-प्रथा को समाप्त कर दिया। उसने जनता से कहा—"प्रजातन्त्र—जनता का जनता के लिए, जनता द्वारा चलाया जाने वाला राज्य होता है। यह धरती से मिटने न पाये।" इसी व्यक्ति ने अमेरिका को दो टुकड़े होने से बचाया।

उसकी मानव-समता की भावना समस्त संसार के लिए अनुकरणीय है। इसी समता के लिए वह जिया और इसी के लिए वह मरा।

इस व्यक्ति का नाम था—अब्राहम लिंकन । अब्राहम लिंकन की गणना संसार के उन महान् मनुष्यों में से है, जो मानवता को सर्वोपरि समझते थे। लिंकन ने अपने देश के इतिहास का निर्माण किया; किन्तु उसके विचारों का प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा। एक झोंपड़ी से व्हाईट हाउस तक उसके जीवन के कार्य-कलाप उसके अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए थे । उसने व्यक्तिगत इच्छा को पूर्ण करने का कोई प्रयत्न कभी नहीं किया; बल्कि देश और मानव-जाति के कामों में ही अपनी इच्छा की पूर्ति समझी। आज संयुक्त राज्य अमेरिका संसार की सबसे महान् शक्तियों में से एक है। इसका श्रेय लिंकन के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को नहीं। यह लिंकन ही था, जिसने अमेरिका की स्वतन्त्रता और एकता की नींव रखी और जब उसने इस उद्देश्य को प्राप्त कर लिया तो अत्यन्त सज्जनता और नम्रता से उसने कहा—"मैंने कुछ ऐसा नहीं किया कि मानव जाति मुझे स्मरण करे।"

अब्राहम लिंकन का जन्म १२ फरवरी १८०९ में, उत्तरी अमेरिका के केंटकी राज्य में हुआ। केंटकी राज्य का एक गंदा-सा स्थान लकड़ी की बनी झोंपड़ी, चमड़े का बिस्तरा, 'सिंकिंग स्प्रिंग फार्म', टॉमस लिंकन—गरीब पिता, नेन्सी हैंक्स—साधन-विहीन माता। दोनों इतना पढ़े हुए कि अपने हस्ताक्षर कर लेते थे। कौन जानता था कि इस दम्पति का पुत्र एक दिन देश के सबसे ऊँचे आसन पर बैठेगा!

टॉमस लिंकन का मन कभी एक काम पर नहीं टिकता था। वह कभी बढ़ई का काम करने लगता था और कभी किसान का। जब जंगल से लकड़ी काटने का मौसम आता तो वह आराकश बन जाता। जंगलों से उसे विशेष प्यार था। उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी न थी। जीविका की तलाश में वह स्थान भी बदलता रहता था। जब अब्राहम लिंकन, जिसे माँ-बाप प्यार से 'एब' कहकर पुकारते थे, सात वर्ष का हुआ, तो इसके पिता केंटकी से कुछ दूर ओहियो नदी के दक्षिण-पश्चिम में स्थित इण्डियाना में जा बसा।

बालक 'एब' को पढ़ने का बड़ा चाव था। परन्तु परिवार की आर्थिक अवस्था खराब थी। उसे घर में माता के साथ काम में हाथ बँटाना पड़ता और घर से बाहर पिता के कामों में हाथ बँटाना पड़ता। वह बड़े शान्त मन से चुपचाप काम करता रहता था।

अधिक से अधिक थका होने पर भी फिर और काम कहने पर चुपचाप चला जाता था। इस लिए पैसा नहीं था; किन्तु माँ-बाप के लाड़-प्यार में किसी तरह की कमी न थी। जब लिंकन नौ वर्ष का हुआ, तब (अक्तूबर, १८१८ में) उसकी माँ बीमार हो गई और एक सप्ताह बीमार रहने के बाद उसकी मृत्यु हो गई।

अब 'एब' अपने को उदास और अकेला समझने लगा। यही नहीं, उस पर काम का भी भारी बोझ बढ़ गया। जब पिता खेत में हल चलाता, तो लिंकन उसके पीछे चलता हुआ सहायता करता। वह गौओं की सेवा करता, जंगल से लकड़ी काट कर लाता।

इन्हीं दिनों टॉमस और अब्राह्म ने मिलकर अपने हाथों से एक छोटी-सी कोठी बनाई। इस पर 'एब' को बड़ी प्रसन्नता हुई। एक वर्ष बाद उसका पिता यात्रा पर गया। जब वह वापस लौटा, तो अकेला न था। बग्घी में वह नई पत्नी ले आया था और वह नई पत्नी अपने पहले पति के तीन बच्चों को साथ लाई थी। 'एब' की इस नई माँ का नाम था साराह जानस्टन। साराह अपने साथ थोड़ी-बहुत संपत्ति लाई थी। वह बहुत बढ़िया फर्नीचर लाई थी। इससे उस खाली कोठी की शोभा बहुत बढ़ गई।

'एब' की सौतेली माँ बड़ी समझदार, दयालु, उदार और बातूनी थी। वह 'एब' से बहुत प्यार करती थी। उसने 'एब' के साथ अपने पुत्रों से भी अच्छा बर्ताव किया और वह सौतेली माँ का प्यार जीवन भर न भूल सका। 'एब' का पढ़ने का चाव बढ़ता गया। वह पुस्तकें माँग लाता और खाली समय में घर पर पढ़ता। तब साराह ने उसे स्कूल भेजने का निश्चय किया। टॉमस ने इसका बड़ा विरोध किया, क्योंकि इससे कमाई में कमी होने का भय था; किन्तु साराह के आगे उसकी एक न चली और 'एब' को स्कूल में भर्ती कर दिया गया। स्कूल में वह आरम्भिक गणित, ईसप की कहानियाँ, बाइबिल, राबिन्सन क्रूसो की कहानियाँ और जार्ज वाशिंगटन की जीवनी ही पढ़ सका। किन्तु स्कूल में 'एब' अधिक उन्नति न कर सका; क्योंकि वह लगातार अनियमित रहता था। उसे पिता के साथ जंगलों में काम पर सहायता करने के लिए चले जाना पड़ता था।

अपने पास-पड़ोस में वह हँसी-मज़ाक के कारण बड़ा सर्वप्रिय हो गया था। वह एक बिल्ली को भी हँसा सकता था। वह कुत्ते-

बिल्ली-शेर-हाथी-गीदड़ आदि की आवाजें निकालने में कुशल था। गाँववासी उसके पास, गाँव के पादरी की नकलें सुनने जाया करते थे। वह उसकी हू-बहू नकल उतारता था। कथा-कहानी कहने और मनघड़न्त कहानी बना लेने में भी वह प्रसिद्ध हो गया था।

लिंकन अपने इस छोटे-से संसार में बढ़ता रहा। जब वह १८ वर्ष का हुआ, तो हृष्ट-पुष्ट नवयुवक था। उसका कद छः फुट दो इंच था और उसका भार दो मन से कुछ ही कम था। उसकी बाँहें घुटनों से नीचे तक पहुँचती थीं और उसकी टाँगें भी विशेष लम्बी थीं। उसे कुरूप नहीं कहा जा सकता था, लेकिन उसका शरीर बेढंगा अवश्य था। कुश्ती में वह किसी की भी झट पीठ लगा देता था और भार उठाने में किसी से न हारता था। उसे शिकार से बड़ी घृणा थी, वस्तुतः उसे जानवरों से प्यार था। वह शान्त और धीर स्वभाव का था। उतावलापन उसमें न था। शारीरिक परिश्रम के कामों में उसे गर्व का अनुभव होता था; किन्तु उसके मन में उन्नति करने के भाव अंकुरित हो चुके थे।

सन् १८२८ में उसे बाहरी संसार में आने का अवसर मिल गया। खेतों की उपज को न्यू आरलियन्स तक नाव द्वारा ले जाने की नौकरी उसे मिल गई। यह यात्रा एक हजार मील की थी और यह तीन महीने में पूरी हुई। इस यात्रा में उसे जितना कष्ट हुआ, उतना ही आनन्द भी मिला। उसे पहले-पहल बड़े-बड़े स्टीमर, नगर-जीवन की तड़क-भड़क और भारी भीड़ देखने का अवसर मिला। इस यात्रा में उसे एक बात से मर्मान्तक दुःख हुआ। उसने धनियों के लिए दासों को काम करते हुए देखा। उन पर गधों की तरह भारी बोझ लाद दिया जाता था और उनके साथ बड़ा ही क्रूर व्यवहार किया जाता था।

अपनी दूसरी यात्रा में वह दासों की रहने की अवस्था देखने गया। उनकी दयनीय दशा देखकर उसका हृदय काँप उठा। मन ही मन उसने प्रण किया कि वह अपने देश से गुलामी की प्रथा को समाप्त करके रहेगा। उस समय उसके लिए यह सोचना बहुत बड़ी बात थी, किन्तु यह विचार आना ही अब्राहम लिंकन के जीवन में परिवर्तन बिन्दु (Turning Point) बना।

सन् १८३० में अब्राहम लिंकन का पिता इण्डियाना से इलिनॉय

चला गया; क्योंकि वहाँ खाद्य पदार्थ सस्ते थे। वहाँ उन्होंने लकड़ी का घर वनाया और उसी में परिवार रहने लगा।

एक वर्ष वाद माता-पिता को छोड़कर वह न्यू सलेम में जाकर वस गया। यह केवल पन्द्रह घरों का एक गाँव था। एक छोटे-से स्टोर में उसे मैनेजर का काम सौंपा गया। इस नौकरी में काम थोड़ा ही था। वह पुस्तक लेकर लेट जाता और पढ़ने में मग्न रहता। जव कोई ग्राहक आता तो उठकर सामान दे देता और फिर पढ़ने में खो जाता था।

इन्हीं दिनों चुनाव हुए और उसने क्लर्क का काम किया। इस नौकरी पर काम करते हुए उसके मन में चुनाव में खड़े होने का विचार भी आया। वह ईमानदार और मिलनसार था। वह सीधा और हँसमुख था। इन्हीं गुणों से वह गाँव वालों में सर्वप्रिय हो गया। उसके स्वस्थ शरीर और कोमल व्यवहार ने गाँव वालों को मुग्ध कर लिया। फिर एक दिन उसने एक पहलवान को कुश्ती में पछाड़ दिया। इससे वह नवयुवकों का नेता वन गया और सारा गाँव उसका वहुत सम्मान करने लगा। इस राज्य के उत्तरी भाग में युद्ध छिड़ गया। तव उसने एक स्वयं सेवक सेना का संगठन किया। इससे वच्चे-वच्चे के मुँह पर लिंकन का नाम चढ़ गया। उसे जनता में काम करने का भी पूरा अवसर मिल गया। लड़ाई के वाद इसने एक व्यक्ति के साथ साँझेदारी में एक स्टोर खोला। लेकिन अपने भोलेपन में लिंकन को इसमें भारी घाटा उठाना पड़ा। वह पुस्तकें पढ़ने में मग्न रहता और उसका साँझीदार सारी व्हिस्की पीकर समाप्त कर देता। जो विक्री होती, उसे वह जेव के हवाले करता। अन्त में लिंकन को वह स्टोर वन्द कर देना पड़ा। इस व्यापार में वह कण्ठ तक ऋण में डूव गया और वीस वर्षों में उऋण हो सका।

सौभाग्य से, १८३३ में वह पोस्टमाटर वन गया। इस समय डाक में आये समाचार-पत्रों को पढ़ने का अवसर उसे खूव मिला। उसने अपनी शिक्षा को पूर्ण करने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा था। इससे उसके ज्ञान के नेत्र खुलते चले गए। उसने नौकरी करते हुए ही वकालत की पढ़ाई पढ़नी शुरू कर दी, किन्तु प्रमाण-पत्र के अभाव में उसे वकालत की आज्ञा न मिली। इसी वर्ष न्यू सलेम से प्रान्तीय विधान सभा के चुनाव में वह उम्मीदवार वना। इस चुनाव

में वह हार गया; किन्तु १८३४ में दुबारा चुनाव होने पर उसकी विजय हुई।

एन नाम की एक लड़की से उसे प्रेम हो गया था। लेकिन उस लड़की का किसी और व्यक्ति से विवाह निश्चित हो गया। एक बेकार जैसे भद्दे आकार के व्यक्ति को एन के माता-पिता कैसे पसन्द करते ! परन्तु एन को उसके मँगेतर ने धोखा दे दिया। वह रोगशय्या पर पड़ गई और अन्त में उसकी मृत्यु हो गई। इस पर लिंकन को हार्दिक दु:ख हुआ। वह अपने को अकेला, उदास और खिन्न अनुभव करने लगा।

जब इलीनॉय की राजधानी स्प्रिंगफील्ड में बदल गई, तो लिंकन भी अपने साधारण सामान को लेकर वहाँ चला गया। वहाँ आकर उसने अपनी वकालत की शिक्षा सम्पूर्ण की। इस पढ़ाई के लिए उसे कठोर परिश्रम करना पड़ा और बिना साधनों के केवल साहस और लगन के बल पर ही वह इस काम में सफल हुआ। जॉन स्टुअर्ट से वह पुस्तकें माँगकर लाता और पढ़कर पुन: लौटा आता था। कभी-कभी उसे पुस्तकें माँगने के लिए बीस मील तक पैदल यात्रा करनी पड़ती थी। वकालत की पढ़ाई पूरी करके उसने स्प्रिंग-फील्ड में ही प्रेक्टिस शुरू कर दी। प्रेक्टिस शीघ्र ही चमकने लगी। वह १८३८ और १८४० में विधान सभा का सदस्य निर्वाचित हुआ।

मेरी टाड एक धनी माँ-बाप की लड़की थी। अचानक लिंकन की उससे भेंट हुई। दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए और यह आकर्षण ४ नवम्बर १८४२ को विवाह में परिणत हुआ।

मेरी टाड धन सम्पत्ति में और लाड-प्यार में पली थी। उसकी आदतें बिगड़ी हुई थीं। वह बहुत अभिमानिनी और झगड़ालू थी। उसकी जबान तेज-तर्रार थी। प्रतिदिन वह घर में कुहराम मचाये रहती थी। लिंकन को वह बहुत सताती थी। यही नहीं, उसके मित्रों के आने पर और भी उपद्रव मचाती थी। किन्तु उसके मुकाबिले में लिंकन सराहनीय धैर्य का परिचय देता था। लिंकन के धैर्य पर उसे और भी क्रोध आता था; किन्तु वह पत्नी के कठोर से कठोर शब्दों को हँसी में टाल देता था। एक बार जब पत्नी ने बहुत तंग किया तो टाड ने कहा, God को प्रसन्न करना आसान है; परन्तु

Todd को नहीं; क्योंकि God के लिए एक ही 'd' काफी है, जबकि Todd के लिए दो 'd' की आवश्यकता है।

परिश्रम और लगन के कारण लिंकन की गणना इलिनॉय के श्रेष्ठ वकीलों में होने लगी। आय भी बढ़ गई। इस तरफ से निश्चिन्त होकर अब उन्होंने गुलामी की प्रथा को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और सन् १८५० में वे इस काम में जुट गए। अमेरिका में गुलामी की प्रथा सन् १६१९ से थी। दक्षिणी अमेरिका में कपास की खेती होती थी। उन खेतों के स्वामी ज़मींदार अनेक दास-दासियाँ रखते थे। वे उनसे बड़ा क्रूर बर्ताव करते थे। यही नहीं, वे दास-प्रथा का बड़े ज़ोर से समर्थन करते थे। उत्तरी अमेरिका में दास-प्रथा प्रायः नहीं थी। वहाँ के लोग प्रायः दास-प्रथा के विरोधी थे।

सन् १८४७ में लिंकन संयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस (संसद्) के सदस्य चुने गए। इन्होंने कानून द्वारा गुलामी की प्रथा समाप्त करने का प्रस्ताव रखा; किन्तु इनकी आवाज़ अकेली थी। उसका किसी ने साथ न दिया। तब इन्होंने निराश होकर पुनः वकालत में मन लगाया।

सन् १८५४ में स्टीफेन डगलस ने एक कानून बनाया। इससे दास-प्रथा को और भी बढ़ावा मिला। लिंकन इसे सहन न कर सके। १८५६ में वे रिपब्लिकन पार्टी में सम्मिलित हो गए। सन् १८६० में वे रिपब्लिकन प्रत्याशी के रूप में देश के राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बने। इस चुनाव में उन्हें भारी बहुमत से सफलता प्राप्त हुई।

फरवरी १८६१ में उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति पद की शपथ ली। परन्तु उनके विरोधियों की संख्या और शक्ति भी कम नहीं थी। दक्षिणी अमेरिका ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। देश की एकता के इस खतरे को देखकर लिंकन को दुःख हुआ; किन्तु वे दास-प्रथा के उन्मूलन का विचार छोड़ने को तैयार न थे। मानव समता के सिद्धान्त की रक्षा के लिए लिंकन को गृहयुद्ध का सामना करना पड़ा। आरम्भ में यूनियन की सेनाओं को भारी क्षति पहुँची। बहुत से सैनिक मारे गए और उन्हें पीछे हटना पड़ा। इस युद्ध में बलिदान हुए सैनिकों के सम्मान में भाषण देते हुए लिंकन ने कहा—"हम उनका सम्मान करते हैं जो जाति को जीवित रखने के लिए मर

गए। प्रण करो कि जनता की सरकार, जनता से, जनता के लिए ही हो। यह सिद्धान्त पृथ्वी से न मिटे।"

इन दिनों लिंकन को मन्त्रियों तथा सेनानायकों के साथ रात-दिन काम करना पड़ता था। उन्हें न नींद सताती थी और न भूख प्यास की चिन्ता। निरन्तर चार वर्ष तक यह संग्राम जारी रहा। शान्ति की इच्छा रखते हुए लिंकन को युद्ध करना पड़ा क्योंकि वह उसूल नहीं छोड़ सकता था। अन्त में दक्षिणी सेनाओं के सेनानायक जनरल ली ने हथियार डाल दिये और गृह-युद्ध समाप्त हो गया।

लिंकन का किसी से वैर-विरोध या ईर्ष्या-द्वेष न था। वह युद्ध के दौरान जितना कठोर था, शान्ति के समय उतना ही क्षमाशील था। युद्ध समाप्त होने पर उसने बड़ी उदारता और दयालुता का परिचय दिया। उन्होंने सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया। इससे अमेरिकन राष्ट्र के घाव शीघ्र ही भर गए और राष्ट्र संयुक्त रह गया। लिंकन ने दास-प्रथा को पूरी तरह समाप्त कर दिया।

१४ अप्रैल को रात्रि के समय, अपने सम्मान में आयोजित एक थियेटर में नाटक ये देखने गए। वहाँ एकाएक जॉन विल्कस बूथ नामक एक अभिनेता बॉक्स में आया। आते ही उसने पिस्तौल कान पर रखकर गोली चला दी।

लिंकन मर गया; किन्तु मानवता के लिए उसने जो काम किया, उसके कारण उसकी कीर्ति-सुरभि युग-युगान्तरों तक धरती को सुरभित करती रहेगी।

सेवा पथ

- फ्लोरेंस नाइटिंगेल
- गाँधी जी
- जवाहरलाल नेहरू

व्यक्ति से ऊँचा उठकर ही मनुष्य परिवार की सेवा में लीन होता है, किन्तु जब उसका हृदय और विशाल हो जाता है तो वह परिवार की परिधि में नहीं रहता; फिर तो उसे समाज और राष्ट्र के अधिकाधिक मनुष्यों की सेवा की लगन लग जाती है। फ्लोरेंस नाइटिंगेल के मन में किशोरावस्था से ही, पास-पड़ोस के निर्धन जनों की सेवा करने की भावना ने जन्म लिया। गरीबों की झोपड़ियों में जाकर वह रोगियों का उपचार करने में एक विचित्र आनन्द का अनुभव करती थी। उसके माता-पिता ने उसे इस मार्ग से निरुत्साहित करने का प्रयत्न किया। परन्तु इस पथ को ही उसने जीवन-पथ बना लिया। उसने विश्व में रोगी-परिचर्या के काम को प्रतिष्ठा प्रदान करवाई।

गांधी जी का जीवन ही दरिद्रनारायण की सेवा में समर्पित था। गरीबों के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने 'चरखा' का मंत्र दिया। उससे लाखों घरानों को रोजगार देने का मार्ग उन्होंने खोला। उन्होंने हरिजनों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए, जीवन भर की बाजी लगा दी। करोड़ों भारतवासियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने के लिए उन्होंने सत्य और अहिंसा के आधार पर सत्याग्रह का संग्राम छेड़ा, किन्तु वह विचित्र संग्राम था, जिसमें विरोधी से नहीं, उसकी बुराई से संघर्ष किया जाता है और इसके मूल में सेवा की ही भावना मुख्य थी। दरिद्रनारायण की सच्ची सेवा करने के कारण ही गांधी जी महान् बने। उनका जीवन करोड़ों भारत-वासियों के लिए सदा प्रेरक रहेगा।

जवाहरलाल नेहरू ने सेवा का मंत्र गांधी जी से सीखा। उन्होंने पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करके करोड़ों भारतीयों के हृदय-सिंहासन पर अधिकार कर लिया। राजसी सुख-भोगों का त्याग करके आजीवन २४ में से १८-२० घंटे प्रतिदिन काम करके उन्होंने लोक-सेवा का जो आदर्श स्थापित किया, वह भारतवासियों ही नहीं, विश्व के मानव-मात्र को प्रेरणा प्रदान करता है। लोक-सेवा के बल पर ही नेहरू जी जन-जन के प्रिय हो गए थे। वे विश्वमात्र के मानवों की स्वतन्त्रता तथा समानता के प्रबल समर्थक थे। इसी कारण उनका जितना सम्मान स्वदेश में होता था, विदेशों में उससे कम न होता था। स्वाधीनता के अनन्तर उन्होंने वैज्ञानिक रीति से भारतीय उद्योगों का विकास करने का प्रयत्न किया। उसके मूल मेंभी कोटि-कोटि लोगों की सेवा की भावना ही मुख्य थी। इनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का कारण इनकी मानव-सेवा की प्रबल आकांक्षा ही थी, जिसे पुष्ट करने के लिए इन्होंने सह-अस्तित्व का मंत्र सारे विश्व को प्रदान किया।

: ७ :

फ्लोरेंस नाइटिंगेल

भारतीय नारियों में सेवा की भावना सदा से रही है; किन्तु उनका सेवा-क्षेत्र प्रायः घर और परिवार तक ही सीमित रहता है। यहाँ एक ऐसी नारी का चरित्रांकन किया जा रहा है, जिसने माता-पिता के तथा सम्बन्धियों के घोर विरोध करने पर भी घर से बाहर सेवा का क्षेत्र चुना। इस देवी का नाम है फ्लोरेंस नाइटिंगेल। वह इतनी परोपकारिणी थी कि घायलों, दुःखियों और रोगियों की सेवा को ही उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। रात्रि के समय लैंप हाथ में लेकर मार्ग ढूँढती हुई वह घायलों के बिस्तरों को अपने हाथ से सँवारती, मरते हुए रोगियों के मुँह में दवा डालकर उन्हें प्राणदान करती, दुःखियों को आश्वासन देकर उनका दुःख बँटाती, एक घायल के बिस्तर से दूसरे के बिस्तर तक शान्त उत्साह से जाती, रोगियों की बहुत बड़ी संख्या होते हुए भी न घबराती, व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक रोगी की दशा का पूरा ध्यान रखती थी। उसके लैंप को दूर से देखकर ही रोगियों की कष्ट-सहन की शक्ति बहुत बढ़ जाती थी। 'लैंप वाली महिला' (Lady with a lamp) के नाम से यूरोप-वासी उसका बड़े सम्मान से कीर्ति-गान करते हैं।

अतएव फ्लोरेंस नाइटिंगेल बड़े ऐश्वर्य और सुख-सुविधाओं के वातावरण में पालित-पोषित हुई। पिता का पुत्री पर बड़ा स्नेह था; अतः वे जहाँ भी यात्रा पर जाते, उसे प्रायः अपने साथ ही ले जाते। अल्प अवस्था में ही बालिका को यूरोप के प्रायः सभी बड़े शहरों को देखने का सुअवसर मिला। अपने देश तथा विदेश के अनेक महान् व्यक्तियों को फ्लोरेंस ने समीप से देखा। उसके मन में कोई महान् लोक-सेवा का काम करने की इच्छा अंकुरित हो गई। कुल-परम्परा के अनुरूप उसे ऊँची शिक्षा प्राप्त हुई। किन्तु उसका मन सदा उदास और दुःखी रहता था। यह शायद उसके मन की, प्राणिमात्र के प्रति करुणा थी; नहीं तो व्यक्तिगत रूप से उसे जो सुख और आराम प्राप्त थे, वे किन्हीं विरले ही व्यक्तियों के भाग्य में होते हैं।

उसे दु.ख और उदासी को दूर करने का शीघ्र ही उपाय मिल गया। पास-पड़ौस के घरों में जहाँ कोई रोगी होता, वह वहाँ जा पहुँचती। वहाँ उनकी निश्छल और निःस्वार्थ सेवा करके अलौकिक आनन्द पाती थी। अपने मधुर और कोमल वचनों से वह दुःखियों को सान्त्वना देकर शान्ति प्रदान करती थी।

जब उसने यौवन की देहली पर पग रखा, तो माता-पिता ने देखा कि वह योरुप की अन्य बालिकाओं की अपेक्षा अधिक गंभीर है। इससे उन्हें चिन्ता होने लगी। नाच-गान, थियेटर आदि में उसकी तनिक भी रुचि नहीं थी। अन्य खेल-तमाशे भी उसे अपनी ओर आकर्षित न करते थे।

जब वह सत्रह वर्ष की हो गई, तो माता-पिता ने उसके विवाह की चर्चा चलाई; किन्तु वह इस विषय में ज़रा भी रुचि न दिखाती और टाल जाती थी। उसके मन में एक ही धुन थी कि वह नर्स बनकर आजीवन रोगियों, घायलों और दुःखियों की सेवा करे।

उन दिनों यूरोप में नर्स का काम 'नीचा काम' समझा जाता था। धनी-मानी परिवार के लोग अपनी पुत्रियों को नर्स बनाना अपमान-जनक मानते थे। फ्लोरेंस के माता-पिता को जब अपनी पुत्री के विचार विदित हुए कि वह नर्स बनना चाहती है, तो वे घबरा गए। इस बात की कल्पना से उनकी सम्पन्नता और संभ्रान्तता को बट्टा लगता था। अतः माता-पिता ने फ्लोरेंस को बहुत ऊँच नीच समझाया। किन्तु फ्लोरेंस पर इसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। उस

समय नर्स का काम प्रायः वृद्धा, अशिक्षिता, कुरूपा और अकुलीना किया करती थीं। हस्पतालों में काम करने वाली स्त्रियों का चरित्र भी संदिग्ध समझा जाता था। उनके वेश और व्यवहार में शालीनता न होती थी। फ्लोरेंस का विचार था कि जब तक संभ्रान्त घरों के माँ-बाप अपनी शिक्षित लड़कियों को नर्स का काम न करने देंगे, तब तक इस सेवा की समाज में प्रतिष्ठा न हो सकेगी।

किन्तु फ्लोरेंस के माँ बाप को लड़की का यह विचार ही हास्यास्पद प्रतीत होता था। वे चाहते थे कि उसका विवाह किसी कुलीन और धनी युवक से करके वे अपना कर्तव्य पूरा कर दें।

इस विचार-भेद के कारण संघर्ष रहने लगा। वे निरन्तर फ्लोरेंस के विचार का विरोध करते रहते, किन्तु उसके मन में अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा अटूट होती जाती थी। इस संघर्ष में तीन वर्ष का समय व्यतीत हो गया। फ्लोरेंस और गंभीर तथा दुखी रहने लगी। विवश होकर माता-पिता ने उसे नर्स का प्रशिक्षण प्राप्त करने की अनुमति दे दी।

फ्लोरेंस ने प्रशिक्षण-काल में ऐसा मनोयोग का परिचय दिया कि अधिकारों का ध्यान उस पर सहज ही केन्द्रित हो गया और उन्हें आशा होने लगी कि फ्लोरेंस नर्स-सेवा के कार्य में देश के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। प्रशिक्षण समाप्त करते ही, उसकी योग्यता को देखते हुए, उसे 'हार्ले स्ट्रीट' के हस्पताल में सुपरिंटेंडेंट का पद दिया गया।

यद्यपि उसका कार्यक्षेत्र सीमित था; किन्तु उसमें भी उसे अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने अपने स्वप्नों को साकार करने का प्रयत्न किया। उसकी कार्यकुशलता, उसकी लगन और शिष्ट व्यवहार पर सभी प्रसन्न थे।

इन्हीं दिनों क्रीमिया की लड़ाई शुरू हो गई। फ्लोरेंस ने देश की पुकार सुनी। उसने अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं। इसके लिए देश से बाहर जाना था। फ्लोरेंस की माता को यह बात असह्य थी। वह इसकी अनुमति देने के किसी तरह तैयार न थी। किन्तु अन्त में लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर वह मान गई।

फ्लोरेंस को आज्ञा दी गई कि वह नर्सों का एक दल लेकर क्रीमिया जाए और वहाँ युद्ध में आहत सैनिकों तथा रोगियों की सेवा करे। आज्ञा पाकर फ्लोरेंस को असीम प्रसन्नता हुई। उसने तुरन्त स्वीकृति दे दी। इस समय उसकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी। उसके सेवा-भाव से प्रेरणा पाकर उसकी अनेक सखियो ने भी अपने प्रार्थनापत्र दे दिए। उनतालीस नर्सों का एक दल लेकर सप्ताह के भीतर ही वह इस्तंबोल जा पहुँची। वहाँ से ४ नवम्बर सन् १८८४ को नर्सों का यह दल स्कूतरी जा पहुँचा।

नौ दिन पहले बालक्लावा का युद्ध हो चुका था। एल्मा के युद्ध के कारण वहाँ के सैनिक हस्पताल का प्रबन्ध अस्त-व्यस्त हो चुका था; क्योंकि भारी सख्या में घायल सैनिक हस्पताल में पहुँच गए थे। क्रीमिया में घायलों का मामूली इलाज करने के बाद उन्हें दो-दो सौ के जत्थों में स्कूतरी भेजता जा रहा था। कुप्रबन्ध के कारण कई रोगी तो मार्ग में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते थे। इसके बाद जो बचते थे, उन्हें मरे हुए सैनिकों की लाशों के साथ स्कूतरी पहुँचा दिया जाता था।

अस्पताल में स्थान की कमी थी। इमारत बहुत पुरानी थी। उसकी गिरती दीवारों और उखड़े-पुखड़े फर्श को देखकर फ्लोरेंस को प्रतीत हुआ कि मानो यह हस्पताल नहीं; बल्कि नरक है। रोगियों और घायलों के बिस्तर एक दूसरे से सटे हुए थे। मक्खियाँ भिनभिनाती थीं; किन्तु सफाई का कोई प्रबन्ध न था। रोगियों के के लिए झाड़न और तौलिये तो दूर, दवा-दारू और रुई-पट्टी आदि भी पर्याप्त नहीं थे। ऊपर से हस्पताल के कर्मचारियों का वर्ताव बड़ा रूखा और कठोर था। कठोर शीत में भी रोगियों के पास ओढ़ने को पर्याप्त वस्त्र न थे।

फ्लोरेंस ने वहाँ जाकर काम संभाला। उसे कठिन परीक्षा सामने दिखाई दी। युद्ध के कारण उपकरणों की पहले ही बहुत कमी थी

ऊपर से एकाएक घायलों की अनपेक्षित संख्या के कारण हस्पताल का सारा प्रबन्ध बिगड़ गया था। फ्लोरेंस ने सबसे पूर्व घायलों और रोगियों के लिए कमीज़, पेंट, बूट, जुर्राब आदि को एकत्रित करने का प्रबन्ध किया। उसने पजामे, गाउन पैंट आदि तैयार भी करवाए। भोजन आदि की व्यवस्था ठीक की। उत्साह, स्फूर्ति, सहानुभुति, कार्यकुशलता और मधुर व्यवहार के द्वारा उसने अपने काम को आगे बढ़ाया।

उसने अपना कार्यक्षेत्र प्रबन्ध तक ही सीमित न रखा था। वह स्वयं एक-एक रोगी के पास जाती, उसका दुख-दर्द पूछती। उपचार का प्रबन्ध करती। अपने कोमल वचनों से सान्त्वना देकर उनका दुख दूर करने का प्रयत्न करती। घायल और रोगी उसे देवी समझते थे। वे उसका बड़ा सम्मान करते थे। वे उसके लिए अपनी आँखें बिछाते थे। उसके दर्शनमात्र से उनका बहुत-सा दुख हलका हो जाता था। उसके कोमल वचन इस प्रकार शान्तिदायक थे, जैसे घाव के ऊपर मरहम।

आरम्भ में कुछ डाक्टरों ने फ्लोरेंस के काम में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया; किन्तु फ्लोरेंस की नम्रता-भरी दृढ़ता के सामने उन्हें झुकना पड़ता था। जिस हस्पताल के प्रबन्धक उत्साह-हीन हो चुके थे, उनमें फ्लोरेंसन ने आशा, उत्साह और विश्वास की भावना का संचार किया।

हस्पताल के हाल बहुत लम्बे-लम्बे थे। रोगियों की संख्या बहुत अधिक थी। सामान की कमी थी। और भी अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ थीं; किन्तु फ्लोरेंस ने असीम साहस और आत्मविश्वास से शीघ्र ही सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया और वह उसमें सफल हुई। हस्पताल के जिस विभाग में वह कोई कमी देखती, उसे दूर करने के लिए जुट जाती। उसकी सूझबूझ, कार्यतत्परता और अथक सेवा की सभी सराहना करने लगे।

प्रभात से रात तक निरन्तर काम करने के उपरान्त, जिस समय रोगी सो जाते थे, फ्लोरेंस अपने कमरे में जा बैठती। सिपाहियों के मित्रों तथा रिश्तेदारों को सैकड़ों पत्र लिखती। वह आये हुए पत्रों को पढ़ती और उनके उत्तर तैयार करती। फिर हस्पताल कार्यालय सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत पत्र लिखती। तदनन्तर वह दिन-भर के कार्य की रिपोर्ट लिखती।

फ्लोरेंस के आने से पूर्व, क्रीमिया के उस हस्पताल में कुप्रबन्ध और अस्वच्छता आदि के कारण रोगियों तथा घायलों में से ४२ प्रतिशत मृत्यु का ग्रास बन जाते थे। किन्तु फ्लोरेंस ने अपने सेवाभाव के बल पर इस संख्या को इतना कम कर दिया कि मृत्यु-संख्या केवल २% रह गई। इसी से उसके कार्य महत्व का अनुमान किया जा सकता है।

फ्लोरेंस ने अपने कार्य से नर्स के काम को प्रतिष्ठा प्रदान की। उसने एक नर्स का आदर्श उपस्थित किया। इसलिए सरकार ने 'आर्डर ऑफ मैरिट' से सम्मानित किया।

निरन्तर कठोर परिश्रम करने के कारण फ्लोरेंस का स्वास्थ्य बिगड़ गया। तब उसे इंग्लैंड भेज दिया गया। उसके हृदय की गति मन्द हो गई थी। वह बैठी या खड़ी मूर्च्छित होकर गिर पड़ती थी। किन्तु वह अब भी श्रम करती थी। डाक्टरों ने उसे पूर्ण विश्राम करने की सम्मति दी। किन्तु विश्राम करना उसके स्वभाव के विपरीत था।

रोगशय्या पर पड़कर भी वह अनेक रोगियों के लिए सान्त्वना-भरे पत्र लिखवाती रहती थी। सन् १८१० में इसका शरीरान्त हुआ। संसार भर की नारियों के लिए वह सेवा का बहुत ऊँचा आदर्श स्थापित कर गई।

:

: ८ :

महात्मा गाँधी

राष्ट्रपिता गाँधी जी भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के सूत्रधार थे। उन्हीं के उपदेशों पर आचरण करके और उन्हीं की आज्ञा का पालन करके भारतीयों की पराधीनता दूर हुई और स्वराज्य प्राप्त हुआ। बापू ने कहा था—"नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य जाति का कल्याण है।" उनका कहना था—"सबका भला हो, सबका कल्याण हो, सबकी उन्नति हो।" इसी को वे सर्वोदय कहते थे। वे कहा करते थे—'संसार के सभी मनुष्यों और जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों में वही एक ईश्वर विराजमान है। इसलिए किसी को कष्ट न पहुँचाओ। हिंसा न करो। अहिंसा परम धर्म है।" गाँधी जी कहते थे—"मनुष्य की सेवा ही भगवान की सेवा है।" वे एक वर्गहीन, जाति-भेद-रहित अहिंसक समाज की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें सबको उन्नति का समान रूप से अवसर मिले। एक शब्द में इसे वे 'सर्वोदय' कहते थे। उनका मत था कि जीवन में घृणा, लोभ, मोह आदि दूर करके ही मनुष्य ऊँचा उठ सकता है। बापू ऊँच-नीच के भेद-भाव के विरुद्ध थे। उनका कथन था कि छुआछूत सबसे बड़ा पाप है।

इस लँगोटी वाले फकीर के सामने वह साम्राज्य नत-मस्तक हो गया, जिसके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था। इसका कारण, गाँधी जी का आत्मिक बल था। बड़े से बड़ा विरोधी अंग्रेज़ भी जब उनके सामने आ जाता था, उसे गाँधी जी में साकार ईसा मसीह के दर्शन होने लगते थे। बड़े-बड़े राजनेता ही नहीं, वैज्ञानिक भी गाँधी जी के जीवन को दिव्य मानते थे। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने

उनके संबन्ध में कहा था—"संभव है, आगामी पीढ़ियाँ यह कठिनाई से विश्वास करेंगी कि इस प्रकार का कोई रक्त-माँस वाला पुरुष धरती पर उत्पन्न हुआ था।" गाँधी जी का जीवन संक्षेप में कहना हो, तो दो शब्दों में आ जाता है—१. सत्य और २. अहिंसा। बचपन में ही सत्य हरिश्चन्द्र नाटक को देखकर उनके मन में जो सत्य का विचार बैठा, उसे उन्होंने आजीवन नहीं छोड़ा। अहिंसा के विषय में उनका कथन था—"अहिंसा कायरों का भरोसा नहीं, वीर-हृदय की प्राणवायु है। हिंसा की चमक से जो चौंधिया नहीं गए हैं, वे अहिंसा की शक्ति जीवन के क्षण-क्षण में पाएँगे। अहिंसा व्यक्ति और समाज, सबका एक-सा बल और जीवन है। वह युद्ध-जनित आपदाओं का एकमात्र उपचार है; निराधार अधिकारहीन की सत्व-सिद्धि का एकमात्र साधन है।" आध्यात्मिक-क्षेत्र में जो कार्य महात्मा बुद्ध ने किया था, राजनैतिक क्षेत्र में वही कार्य महात्मा गाँधी ने किया। इसीलिए जैसे बुद्ध को भारत के बाहर अनेक देशों के लोगों ने अपना गुरु माना था, उसी प्रकार पराधीन देशों के लोगों ने गाँधी जी को अपना गुरु स्वीकार किया।

गाँधी जी का जन्म २ अक्तूबर, १८६९ (तदनुसार आश्विन कृष्णा १२, संवत् १९२५) में पोरबन्दर (काठियावाड़) के एक वैश्य वंश में हुआ था। इनका नाम मोहनदास रखा गया। इनके पिता कर्मचन्द गाँधी राजकोट रियासत के दीवान थे। गाँधी जी की माता का नाम पुतलीबाई था। वे बड़ी पतिपरायणा और धर्मात्मा थीं। बचपन में ही माता ने गाँधी जी को पवित्रता, सादगी और सत्य-प्रियता की शिक्षा दी थी।

'होनहार बिरवान......' वाली लोकोक्ति गाँधी जी पर चरितार्थ न होती थी। स्कूल में वे एक साधारण बालक थे और उन्हें प्रतिभा-शाली नहीं कहा जा सकता था। लेकिन सत्य-भाषण और सत्य व्यवहार की मज़बूत गाँठ उनके हृदय में लग चुकी थी। इस सत्य को उन्होंने जीवन-भर न छोड़ा।

इनके घर में सभी निरामिषभोजी थे। एक बार इन्होंने छिपकर मांस खा लिया, इस दुर्बलता को उन्होंने स्वीकार किया और इसका प्रायश्चित किया था। एक बार इनके स्कूल में इंस्पेक्टर आए। उन्होंने छात्रों को 'कैटल' शब्द लिखने को कहा। गाँधी जी को शब्द

का अक्षर-विन्यास न आता था। अध्यापक ने इन्हें संकेत किया कि आगे वाले छात्र की नकल कर लो। किन्तु इसमें सत्य की हत्या समझकर गाँधी जी ने ऐसा न किया। उवपास रखने और व्रत पालन करने की शिक्षा भी उन्हें माता से मिली थी।

तेरह वर्ष की अवस्था में गाँधी जी का विवाह कस्तूरबाबाई से कर दिया गया, जो बाद में 'बा' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। सन् १८८५ में इनके पिता का देहान्त हो गया। तब गृहस्थी का उत्तरदायित्व इनकी माता पर आ पड़ा। राजकोट में ही हाईस्कूल पास करने के बाद गाँधी जी को बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विलायत भेजने का निश्चय किया गया। जाने से पूर्व माता ने इनसे प्रतिज्ञा कराई कि ये वहाँ माँस नहीं खाएँगे, मदिरा नहीं पियेंगे, पर-स्त्री को माता के समान समझेंगे। माँ के सम्मुख की गई प्रतिज्ञाओं को गाँधी जी ने दृढ़ता से पालन किया। ४ सितम्बर, १८८८ को गाँधी जी इंग्लैंड के लिए चल पड़े।

सन् १८९१ में इंग्लैंड से जब वे बैरिस्टर बनकर लौटे, तो इन्होंने प्रेक्टिस शुरू की। किन्तु वे अत्यन्त संकोची और लज्जालु स्वभाव के थे। पहले दिन जब वे अदालत में जाकर खड़े हुए, तो मजिस्ट्रेट के सामने बोलते समय उन्हें चक्कर आ गया। बाद में उन्होंने भाषण का अभ्यास करके और चिन्तन करके अपने को दृढ़ बनाया और फिर उनकी प्रेक्टिस कुछ चलने लगी।

सन् १८९३ में एक व्यापारी अपने मुकदमे की पैरवी के लिए इन्हें अपने साथ दक्षिणी अफ्रीका ले गया। वहाँ गाँधी जी ने उसके मुकदमे की अच्छी पैरवी की।

गाँधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में गोरों का भारतीयों के प्रति दुर्व्यवहार देखा, तो इनका मन बहुत दुःखी हुआ। इन्हें स्वयं कई बार भारतीय होने के कारण गोरों के द्वारा अपमानित होना पड़ा।

उन्हीं दिनों इन्होंने रस्किन और टॉलस्टाय की रचनाएँ पढ़ीं और इन्हें 'अहिंसात्मक प्रतिरोध' का मार्ग-दर्शन हुआ। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों पर कुछ ऐसे काले कानून थोपे थे, जो नितान्त भेद-भाव से पूर्ण थे। गाँधी जी की आत्मा को वे असह्य प्रतीत हुए।

गाँधी जी का राजनीतिक जीवन यहीं से आरम्भ हुआ। वे एक

वर्ष के लिए अफ्रीका आए थे; किन्तु बीस वर्ष तक वहाँ रहे और भारतीयों के अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे।

इस संघर्ष का आरम्भ गाँधी जी ने 'सत्याग्रह' से किया। गोरों की सरकार इस नवीन अस्त्र को देखकर भौंचक्क-सी रह गई। उसने दमन-चक्र चलाया; किन्तु उल्टा असर हुआ। गाँधी जी के साथ न केवल भारतीय और वहाँ के काले लोग हो गए; बल्कि अनेक गोरे भी हृदय से उनके समर्थक हो गए। गाँधी जी ने वहाँ ११०० एकड़ भूमि में फोनिक्स आश्रम की स्थापना की, टॉलस्टाय फार्म बनाया, इण्डियन ओपीनियन पत्र चलाया।

गाँधी जी ने पंतजलि के योगसूत्र, रस्किन के 'अनटू दि लास्ट' टॉलस्टाय के अनेक ग्रन्थों, बाइबिल और गीता का अध्ययन करने के बाद अपने अनुगामियों को महात्मा ईसा का यह उपदेश सिखलाया—"यदि कोई तुम्हारे गाल पर चपत मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।"

सन् १८९९ के 'बोअर युद्ध' में तथा १९०६ के 'जुलू विद्रोह' में गाँधी जी ने भारतीय स्वयंसेवकों के दल का संगठन करके युद्ध में घायल होने वाले गोरे सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा बड़े ही मनोयोग से की। इससे वहाँ के शासकों का हृदय-परिवर्तन हुआ और इसी का परिणाम था—'गाँधी-स्मट्स समझौता।' इस समय तक गाँधी जी ने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दम, अस्तेय और अपरिग्रह—जैसे महान् गुणों के कारण संसार-भर में नाम प्राप्त कर लिया। बहुत से ईसाई उन्हें महात्मा ईसामसीह का सच्चा अनुयायी मानने लगे।

सन् १९१५ में गाँधी जी भारत लौट आए। भारत में आने पर उनका बहुत स्वागत हुआ। उन्होंने २५ मई, १९१५ को अहमदाबाद के समीप साबरमती नदी के तट पर आश्रम स्थापित किया। आश्रम में भारत के सभी प्रान्तों से कुछ लोग आकर रहने लगे और गाँधी जी से सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, निर्भयता, स्वदेशी, खादी, अस्पृश्यता-उन्मूलन आदि की शिक्षा प्राप्त करने लगे। उन्होंने प्रत्येक आश्रमवासी को अपने हाथ से सब काम करने और दूसरों से सेवा न कराने की शिक्षा दी।

भारत की स्वाधीनता के आन्दोलन में भाग लेने की दृष्टि से गाँधी जी काँग्रेस के सम्पर्क में आए। उन्होंने श्री गोपाल कृष्ण गोखले

को अपना राजनतिक गुरु बनाया। गोखले जी के आदेश से वे सम्पूर्ण देश की यात्रा करने चल पड़े; जिससे देश की जनता को समीप से जानने एवं उनकी समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन करने का अवसर मिले। इस यात्रा से गाँधी जी ने जो ज्ञानार्जन किया, उससे वे इस निश्चय पर पहुँचे कि केवल सत्य और अहिंसा के बल पर ही देश को आज़ाद कराया जा सकता है।

देश को पराधीनता के पंजे से छुड़ाने के लिए उन्होंने इन बातों को अनिवार्य बताया—

१. साम्प्रदायिक एकता—अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि सभी धर्म अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं। सभी धर्मों के मानने वाले आपस में प्रेमपूर्वक बर्ताव करें।

२. स्वदेशी—सबको स्वदेशी वस्त्र पहनने चाहिएँ। अपने देश की वस्तुओं के प्रयोग से हमारी गरीबी कम हो जाएगी। घर-घर में चरखा चलाया जाए और मील के कपड़े की अपेक्षा खद्दर पहना जाए। देशसेवकों को खद्दर के सिवा दूसरा कपड़ा न पहनना चाहिए।

३. ग्रामोद्योग तथा गाँवों की सफाई—ग्रामों की उन्नति के बिना भारत की उन्नति नहीं हो सकती और ग्रामोद्योगों के बिना ग्रामों की उन्नति असम्भव है। ग्रामवासियों को अपने हाथ से गाँव की सफाई करनी चाहिए। इसमें कुछ खर्च नहीं आता। सफाई के काम को घटिया न समझना चाहिए; बल्कि इसमें गर्व होना चाहिए।

४. नवीन शिक्षा—बुनियादी शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। शिक्षा का प्रसार गाँव-गाँव तक होना चाहिए। हर एक हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तानी भाषा सीखनी चाहिए। किसी भी आयु में शिक्षा-ग्रहण की जा सकती है—बुढ़ापे में भी !

५. अस्पृश्यता-निवारण—छूत-छात का भेद-भाव हमारे समाज का कोढ़ है। इसे जितनी जल्दी हो सके दूर करना चाहिए। सब बराबर हैं, जन्म से न कोई ऊँचा है, न नीच।

६. स्त्रियों की उन्नति - स्त्रियों को उनके योग्य शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें सामाजिक कार्यों में पूरा भाग लेना चाहिए।

७. स्वास्थ्य रक्षा—सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा सबसे बड़ी पूजा है। शरीर ब्रह्म का मंदिर है इसको स्वस्थ तथा साफ़ रखना हमारा कर्तव्य है।

८. राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार—हमारे देश की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और वह हिन्दी ही हो सकती है।

९. मादक द्रव्य निषेध—शराब ही नहीं तमाम मादक द्रव्य छोड़ देने चाहिएँ। चाय, कहवा, कोका, सिगरेट-तम्बाकू—ये सब विषैले पदार्थ हैं। इनका सेवन न करना चाहिए।

१०. संयम—इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। गृहस्थ भी यदि संयमी है तो वह भी ब्रह्मचारी है।

११. आर्थिक समता—सबको समान रूप से अपने-अपने श्रम का फल मिलना चाहिए। आर्थिक विषमता नहीं रहनी चाहिए। समता लाने के लिए हिंसा का प्रयोग न करके हृदय-परिवर्तन करना चाहिए। जागीरदारी और जमींदारी का उन्मूलन होना चाहिए।

१२. सत्य और अहिंसा –सामान्य जीवन में ही नहीं, राजनैतिक क्षेत्र में भी सत्य और अहिंसा का पालन करना चाहिए। यदि साधन श्रेष्ठ होंगे, तो फल भी श्रेष्ठ होगा। यदि हिंसा के द्वारा मुझे स्वराज्य मिले तो मैं उसे स्वीकार न करूँगा।

यह कहा जाता है कि गाँधी जी ने सत्याग्रह के बल पर स्वराज्य प्राप्त किया। इस तथ्य का विस्तार यह है कि गाँधी जी ने आश्रम खोले, चर्खा संघ, हरिजन सेवक संघ, राष्ट्र प्रचार संघ आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना की, यंग इंडिया आदि अनेक पत्र निकाले, हरिजन पत्र अनेक भाषाओं में निकाला, भारत के प्रत्येक प्रदेश के गाँवों और नगरों की यात्रा की, सहस्रों भाषण दिये और लेख लिखे, लाखों लोगों से मुलाकात की और उन्हें अपने विचार दिये, सहस्रों लोगों को स्वराज्य के लिए तैयार किया, हजारों खद्दर भंडार खोल-कर लाखों गरीबों और विधवाओं का उपकार किया। वे निरन्तर काम करते रहते थे और चौबीस घंटों में इतना काम कर डालते थे, जितना कोई बड़े-से बड़ा कार्यकर्ता बहत्तर घंटों में कर सके। वे सारा काम अपने हाथ से करने में विश्वास रखते थे। साधारण सफाई तो क्या मल-मूत्र की सफाई भी अपने हाथ से करने में उन्हें संकोच न था। वे रोगियों की परिचर्या के लिए एक अच्छी नर्स से बढ़कर काम करते थे। वे चर्खे पर इतनी महीन तार निकालते थे कि बहुत कम लोग उनका मुकाबला कर सकते थे। वे आए हुए पत्र का, चाहे वह कितने ही साधारण या अपरिचित व्यक्ति का हो, तुरन्त उत्तर देते

थे। वे भीड़ भाड़ से घवराते न थे। अनेक सहकारियोंको अपने साथ काम में लगाए रहते थे। वे वहुत तीव्र गति से काम किया करते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल भ्रमण करते जाते थे और कई मील का चक्कर लगाते थे। वे समय के वहुत पावन्द थे। एक वार उन्हें किसी सभा में जाना था। कोई सवारी न मिलने पर वे एक साइकिल लेकर ही कई मील चले गए और ठीक समय पर जा पहुँचे।

प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो चुका था। गाँधी जी ने अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता पर विश्वास करके उनकी सहायता करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा कि भारत की स्वतन्त्रता फ्रांस के रण-क्षेत्रों में पड़ी है। उनकी आज्ञा से भारत ने धन-जन से अँग्रेज़ों की पूरी सहायता की। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर अँग्रेजों ने रौलेट-ऐक्ट जैसे दमनकारी कानून भारतीयों को दिये।

भारतवासियों ने असहयोग का मार्ग अपनाया तो मार्शल ला लागू करने स्थान-स्थाप पर लाठी और गोली द्वारा सरकार ने दमन किया। अमृतसर के जलयांवाला वाग का हत्याकांड होने पर तो गाँधी जी की रही-सही आशा भी समाप्त हो गई। इस हत्याकांड में हजारों नर-नारी जो सभा के रूप में उपस्थित थे, मशीन गनों द्वारा भून दिये गए थे। इन्हीं दिनों अँग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने का प्रयत्न किया। किन्तु गाँधी जी ने खिलाफत आन्दोलन की वाग-डोर संभालकर अँग्रेज़ों की इस चाल को विफल कर दिया। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों की एकता पर वहुत जोर दिया। परिणामतः हिन्दू गाँधी जी पर जितना विश्वास करते थे, उतना ही मुसलमान भी करते थे।

१३ अप्रैल, १९१९ की जलियाँ वाला वाग के हत्याकांड की देश में तीव्र प्रति क्रिया हुई। देश के जन-जन में विदेशी राज्य से छुटकारा पाने की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई।

सन् १९२० के कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन में गाँधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। गाँधी जी ने सरकारी दफ्तरों, स्कूलों-कालेजों और कचहरियों का वहिष्कार करने के लिए जनता का आह्वान किया। विदेशी वस्त्रों का वहिष्कार किया गया। स्थान-स्थान पर उपस्थित जन-समुदाय

के वीच गाँधी जी विदेशी कपड़ों का ढेर लगवाकर होली जलाते थे। इंग्लड से आयात होने वाले माल का परिमाण वहुत घट गया और सरकारी कामकाज ठप्प होने लगा। असहयोग आन्दोलन का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा और डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, अध्यापक और धनपति गाँधी जी के आदेश का पालन करने के लिए आगे आए। घर-घर में चर्खा चलाया जाने लगा। गाँवों में लघु उद्योगों की-स्थापना की जाने लगी। इसी समय में गाँधी जी के आह्वान पर राजेन्द्रप्रसाद, वल्लभभाई पटेल, सुभाषचन्द्र वोस, जवाहरलाल— प्रभृति अनेक व्यक्ति आगे आए और समय पाकर राजनैतिक क्षितिज में उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमके।

उन दिनों गाँधी जी ने अपने 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' पत्रों में जो लेख छपवाए, उन्हें सरकार-विरोधी करार देकर उन पर मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें छः वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया। गाँधी जी के जेल जाने के वाद विकराल हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए। जेल में वैठे गाँधी जी ने जव यह दुखद संवाद सुना तो उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा हुई। उन्होंने हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए (जेल में ही) आमरण अनशन कर दिया। सारा देश गाँधी जी के प्राणों का मूल्य पहचानता था; अतः हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने इकट्ठे होकर आपस में समझौता किया। इक्कीस दिन वाद गाँधी जी ने अपना अनशन तोड़ा। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर गाँधी जी की हालत सुनकर उनसे मिलने जेल में पहुँचे थे। अन्य नेताओं के आग्रह पर उन्होंने अपने हाथ से गाँधी जी को सन्तरे का रस पिलाया। इसके वाद गाँधी जी को रिहाकर दिया गया।

दूसरी वार जव गाँधी जी ने सत्याग्रह आरम्भ किया, तो चौरा चौरी नामक स्थान पर जनता द्वारा सिपाहियों की हत्या के कारण गाँधी जी ने आन्दोलन वापस ले लिया; क्योंकि वे सत्याग्रह के लिए हिंसा का 'कर्म, वचन और मन' से त्याग आवश्यक मानते थे।

गाँधी जी में यह भी गुण था कि वे अपनी भूल को स्वीकार कर लेते थे, यही नहीं प्रायश्चित्त के लिए भी कई वार उन्होंने अनशन किया। अपने, अपने साथियों या अपने अनुगामियों के दोषों के लिए भी वे अपने को दोषी मानकर उपवास करते थे। इस प्रकार उन्होंने

कई ऐतिहासिक उपवास किये और यह उनके अहिंसक विरोध-प्रदर्शन का एक अंग हो गया।

अब गाँधी जी अपना सारा समय रचनात्मक कार्यों में लगाने लगे। वे कहते थ कि स्वराज्य के लिए हमें योग्य बनना होगा और उसके लिए तैयारी करनी पड़ेगी। अपने इस मत के अनुसार वे स्वदेशी प्रचार, हरिजन उद्धार आदि कामों में अधिक समय देने लगे। इसी समय जवाहरलाल राजनैतिक क्षितिज पर चमक उठे और उन्हें अपने राजनैतिक उत्तराधिकारी के रूप में पाकर गाँधी जी रचनात्मक कार्यों में और भी अधिक व्यस्त रहने लगे।

सन् १९२८ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को शासन-सुधार देने के लिए 'साइमन कमीशन' को भेजा किन्तु गाँधी जी की आज्ञा से सारे देश ने उसका बहिष्कार किया।

सन् १९२९ में, लाहौर काँग्रेस के अवसर पर, जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में, 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पास हुआ। उसके बाद गाँधी जी ने असहयोग और सत्याग्रह का आन्दोलन बड़े जोर से चलाया। विदेशी वस्त्रों और शराब की दूकानों पर धरना दिया जाने लगा। सरकार ने भी दमन में कुछ कसर न रखी।

१२ मार्च, १९३० को गाँधी जी ने डांडी नामक स्थान की यात्रा ७८ आश्रमवासियों के साथ आरंभ की। समुद्रतटवर्ती इस स्थान पर पहुँचकर ५ अप्रैल के दिन उन्होंने कानून तोड़कर नमक बनाया। गाँधी जी के आदेश पर सारे देश में लाखों स्थानों पर कानून भंग करके बनाया गया।

इस कानून-भंग से सरकार ने क्रुद्ध होकर हजारों सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया। जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेता भी पकड़ लिये। जब सत्याग्रहियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि जेलों में जगह न रही और सरकार पर भारी खर्चा पड़ने लगा, तो विवश होकर सरकार को समझौता करना पड़ा। इस समझौते को 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' कहा जाता है। इसमें तेजबहादुर सप्रू और जयकर - ये दोनों उदार नेता मध्यस्थ बने थे।

सरकार वास्तव में भारतीयों को कोई अधिकार नहीं देना चाहती थी, यह बात गाँधी जी से छिपी न रही। उन्होंने पुनः आन्दोलन छेड़ दिया। इस सत्याग्रह आन्दोलन में पंडित मदन मोहन मालवीय

डॉ० अंसारी, पं० जवाहरलाल नेहरू, खान अबदुल गफ्फ़ारखाँ, सुभाषचन्द्र वोस, सरदार पटेल आदि सभी नेता पकड़ लिए गए।

कुछ समय वाद ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैंड में गोल मेज कॉंफ्रेंस का आयोजन किया। इसमें गाँधी जी मालवीय जी, सरोजिनी नायडू आदि नेता विलायत गए। किन्तु नेताओं को वहाँ से निराश लौटना पड़ा। भारत पहुँचने पर गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। सन् १९३५ में सरकार ने 'कम्यूनल एवार्ड' दिया और शासन सुधार के लिए असेंवलियों को अधिकार दिये। नये चुनाव हुए। काँग्रेस ने गाँधी जी की सलाह से चुनाव लड़ा और ११ में से ७ प्रान्तों में उसने मंत्रिमंडल बनाये। किन्तु सरकार वास्तविक सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपने को तैयार न थी; अतः १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के दौरान काँग्रेसी मंत्रिमंडल त्यागपत्र देकर अलग हो गए। गाँधी जी ने अँग्रेजी सरकार से युद्ध का उद्देश्य पूछा और कहा कि यदि भारत इस युद्ध से ब्रिटेन की पूरी सहायता करे तो क्या युद्ध के वाद उसे पूर्ण स्वराज्य दे दिया जाएगा? इस प्रश्न का उत्तर सरकार कुछ न दे सकी; अतः गाँधी जी ने युद्ध में सहायता देने से इनकार कर यिया।

सन् १९४२ में गाँधी जी ने वम्वई काँग्रेस में अँग्रेज़ो! भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास कराया। सरकार ने गाँधी जी सहित सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इससे जनता भड़क उठी। टेलीफोन और तार काट दिये गये, जेलों पर आक्रमण किया गया, ताकि कैदी छुड़ाए जा सकें रेल की पटरियाँ कई स्थानों से उखाड़ दी गई, कई सरकारी दफ्तर जला दिये गए, कुछ स्थानों पर वम फेंके गए। वलिया आदि कुछ स्थानों पर तो स्वदेशी सरकार की स्थापना कर दी गई। तव जनता को शान्त करने के लिए गाँधी जी ने २१ दिन के अनशन की घोषणा कर दी।

२२ फरवरी, १९४४ को गाँधी जी की धर्मपत्नी कस्तूरवा का वन्दीगृह में ही देहान्त हो गया। तव सरकार ने गाँधी जी को विना शर्त रिहा कर दिया।

उसी वर्ष ब्रिटिश सरकार ने अपनी पार्लियामेंट के सदस्यों का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत की आकांक्षाओं का अध्ययन करने के लिए भेजा। इसके वाद सर स्टेफ़ोर्डक्रिप्स के नेतृत्व में 'केविनेट मिशन' भारत आया। इसकी भारतीय नेताओं के साथ शिमला

आदि स्थानों पर अनेक बैठकें हुईं। उस समय काँग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद, मुस्लिम लीग की ओर से मि० जिन्ना और सिखों की ओर से मास्टर तारासिंह प्रतिनिधि के रूप में केबिनेट मिशन के सम्मुख उपस्थित हुए।

किन्तु सम्पूर्ण वार्तालाप के मूल सूत्रधार गाँधी जी ही थे यद्यपि मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्ना को सन्तुष्ट करने में गाँधी जी सफल न हो सके। केबिनेट मिशन की सिफारिशों के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने भारत में आन्तरिक सरकार की स्थापना की। इसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू बनाये गये।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ, यद्यपि देश के विभाजन से गाँधी जी को गहरी वेदना हुई। विभाजन के समय जो साम्प्रदायिक मार-काट हुई, उसे रोकने के लिए गाँधी जी ने मरणव्रत रखा। तब भारत के सभी बड़े नेताओं ने मिलकर गाँधी जी को आश्वासन दिया कि वे साम्प्रदायिक एकता के लिए जी-जान से प्रयत्न करेंगे। तब गाँधी जी ने उपवास तोड़ा। यह उपवास गाँधी जी के जीवन का अन्तिम महान् कार्य था।

३० जनवरी, १९४८ को एक युवक ने दिल्ली की प्रार्थना सभा में गाँधी जी पर गोली चलाई। 'हे राम !' कहने के बाद महात्माजी परम धाम को सिधार गए।

गाँधी जी अपने देश के साधनों, परम्पराओं और परिस्थितियों के आधार पर ठोस काम करने में विश्वास रखते थे। रचनात्मक काम करके और साम्प्रदायिक एकता कायम रखकर ही हम राष्ट्रपिता को स्मरण करने के अधिकारी हो सकते हैं।

●

: ६ :

जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल नेहरू बीसवीं शताब्दी के भारत के प्रतीक थे। प्राचीन और बैलगाड़ियों के युग से विज्ञान और समाजवाद के युग ओर अग्रसर हो रहे संघर्ष-रत भारतीयों की आशाओं, निराशाओं, स्वप्नों और कठोर सत्यों तथा आक्रोश और धैर्य का जैसा प्रतिनिधित्व जवाहरलाल ने किया, वैसा अब तक कोई भारतीय नहीं कर सका। गाँधी जी कहा करते थे कि भगवान् को छोड़कर वे किसी से नहीं डरते, किन्तु जवाहरलाल ने स्पष्टतः कहा था कि वे भगवान् से भी नहीं डरते। गाँधी जी अधिकार या पद प्राप्त करना न चाहते थे; जवाहरलाल अधिकार और पद को, अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का महत्वपूर्ण साधन मानते थे। जवाहरलाल भी गाँधी जी की तरह बड़ी तीव्र गति से कार्य करते थे और २४ घंटों में से १८ घटे डटकर कार्य करते थे। गाँधी जी अपने देश के साधनों और परम्पराओं के आधार पर काम करते थे, जवाहरलाल किसी रूढ़ि, परम्परा या पूर्वाग्रह से बँधे हुए न थे। प्रेरणा और सहायता के लिए विदेशों की ओर ताकने में वे कुछ बुराई न समझते थे। अपनी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के कारण जवाहरलाल अंग्रेजीपन से बहुत प्रभावित थे, लेकिन वे ऐसी आसान हिन्दी में भाषण करते थे कि देश की जनता को सबसे ज्यादा किसी का भाषण समझ में आता था, तो वह जवाहरलाल का ही था; इसीलिए जब वे भाषण देते थे, तो लाखों लोग उनको सुनने के लिए उपस्थित होते थे। गाँधी जी चटाई पर बैठकर चौकड़ी मारकर भोजन करते थे, जवाहरलाल चौकड़ी मारकर खाने या छुरी-काँटा व चम्मच लेकर खाने में कोई

फर्क न समझते थे। दोनों में तीक्ष्ण भिन्नता के बावजूद अद्भुत समानता थी, जो हमारे देश के लिए वरदायिनी सिद्ध हुई।

जवाहरलाल में एक सबसे बड़ा गुण यह था कि वे कहीं भी, किसी भी समाज में, हर किसी के साथ घुलमिल जाते थे। चाहे वे किसी देश के शक्तिशाली शासक के बीच में, अपने प्रशंसकों के बीच में, अभिनेताओं के बीच में, महिलाओं के बीच में या हँसते-खेलते नन्हें बच्चों के बीच में हों, हमेशा उन जैसे बन जाते थे। वे बच्चों की तरह कोमल, सहृदय, तुनकमिजाज और जिद्दी थे। फिर भी उनमें मिथ्याभिमान ज़रा न था।

जवाहरलाल अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति थे। उनमें कोई छल या प्रपंच नहीं था, जोकि बड़े राजनीतिज्ञों में अकसर पाया जाता है। गाँधी जी की तरह ही जो भी काम वे अपने हाथ में लेते थे, उसे वे सर्वदा पूरा करते थे, चाहे वह बड़ा हो या छोटा। वे उत्तरदायी व्यक्ति थे। वे जो कहते थे, करते थे और जो नहीं कर सकते थे। उसे करने का बीड़ा भी नहीं उठाते थे, साफ इन्कार कर देते थे। उनमें हिम्मत और साहस का महान् गुण था। उन्हें किसी से भय नहीं था। अपने विचार के लिए समय आने पर वे किसी की भी अवज्ञा होने देते थे। जिन बातों पर उनका गाँधी जी से मतभेद था, उसे पत्रों द्वारा या बातचीत द्वारा साफ करने में उन्होंने कभी संकोच न किया था।

भारत की सब प्रकार की उन्नति करने का उनके मन में पूरा नक्शा था। चाहे जवाहरलाल से किसी को कितना ही मतभेद हो; परन्तु उनसे प्रत्येक भारतवासी को प्यार था, भले ही वह किसी दल या जमायत से सम्बन्ध रखता हो। इसका कारण शायद यह है कि जवाहरलाल का अन्तर्बाह्य सुन्दर था। इसीलिए कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उनके सम्बन्ध में कहा था—"अहा! भारत का बसन्त आ गया।"

गाँधी जी जवाहरलाल के गुणों पर मुग्ध थे और हजार मतभेद होने पर भी उन्होंने जवाहर को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। वे जवाहरलाल को वीर, अधीर, विवेकी, उग्र, शुद्ध, सत्यवादी, अहिंसक योद्धा और बलिदानी मानते थे। उन्होंने लिखा था—

"वीरता में कोई जवाहरलाल से बड़ा नहीं हो सकता और देश-प्रेम में उनके आगे कौन जा सकता है ! कुछ लोग कहते हैं कि वे उतावले और अधीर हैं। यह तो इस समय एक विशिष्ट गुण है। जहाँ उनमें वीर सैनिक की तेज़ी और अधीरता है, वहाँ उनमें राजनीतिज्ञ का विवेक भी है। निःसन्देह वह अपनी परिस्थिति से बहुत आगे की बात सोचने वाले उग्रवादी हैं।......वह स्फटिक मणि की तरह शुद्ध हैं। उनकी सत्यवादिता सन्देह से मुक्त है। वे अहिंसक और अनिन्दनीय योद्धा हैं। राष्ट्र उनके हाथ में सुरक्षित है।......वे अनुशासन के पूरे भक्त......निडर, निष्कलंक और निर्दोष सरदार हैं।......उन्होंने अपने देश और उसकी वेदी पर अपने जीवन की समस्त अभिलाषाओं को बलिदान किया है।......जवाहरलाल तो बेताज के ऐसे बादशाह हैं जो हिन्दोस्तान को तो अपनी सेवा देना चाहते हैं, पर उसकी मार्फत सारी दुनिया को भी अपनी सेवा देना चाहते हैं।......जब मैं नहीं हूँगा, तब वह मेरी ही भाषा बोलेंगे।"

भारत की आजादी राजनीति के आधुनिक इतिहास में जवाहर लाल एक युग-निर्माता थे, इसमें सन्देह नहीं।

१४ नवम्बर सन् १८८९ में जवाहरलाल का जन्म प्रयाग के आनन्द भवन में हुआ। इनके पिता मोतीलाल नेहरू देश के गण्य-मान्य वकीलों में वैभव-सम्पन्न धनाढ्यों में तथा बड़े नेताओं में गिने जाते थे। जवाहरलाल की माता स्वरूपरानी धार्मिक स्वभाव की महिला थीं। जवाहरलाल के पूर्वज काश्मीर के 'कौल' ब्राह्मण थे। वे १७वीं शताब्दी में काश्मीर से आकर दिल्ली में नहर सआदत खाँ के किनारे बस गए थे। नहर के किनारे रहने के कारण इनके वंश का नाम ही 'नेहरू' प्रसिद्ध हो गया था। मोतीलाल नेहरू को वकालत से तीस-चालीस हज़ार मासिक आय होती थी। वे राजसी ठाठ-बाट से रहते थे।

जवाहरलाल बचपन से ही पिता का बहुत आदर करते थे। पिता को अपने एकमात्र पुत्र से बड़ा स्नेह था। किन्तु एक बार फाउन्टेनपेन चुराने पर इन्हें पिता से खूब मार पड़ी थी। माता और चाची इन्हें रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाएँ सुनाया करती थीं; अतः बहुत छोटी अवस्था में ही इन्हें हिन्दू-धर्म की बहुत-कुछ जानकारी हो चुकी थी।

जवाहरलाल के पालन-पोषण के लिए एक अंग्रेज़ नर्स रखी गई थी और पहले एक अंग्रेज़ अध्यापक इन्हें घर पर पढ़ाने आया करता था। शीघ्र ही ये कामचलाऊ अंग्रेज़ी सीख गए और अंग्रेज़ी में बोलने लगे। फिर मुंशी मुबारक अली पढ़ाने के लिए आने लगे। उनसे जवाहरलाल ने उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की। फिर एक पंडित हिन्दी पढ़ाने आने लगे। इस प्रकार ६ वर्ष से १२ वर्ष की अवस्था तक इनकी पढ़ाई घर पर ही हुई। जब ये ग्यारह वर्ष के हुए तो इन्हें पढ़ाने के लिए श्री एफ़० टी० ब्रुक्स नामक एक थियोसोफ़िस्ट आने लगे। ब्रुक्स महोदय ने इनमें पुस्तक पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न की। उनके आध्यात्मिक चिंतक का भी जवाहरलाल पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इनके प्रभाव से जवाहरलाल पर पवित्रता और सदाचार की गहरी छाप पड़ी। किन्तु मोतीलाल नेहरू जवाहर लाल को यूरोप की सभ्यता में ढालना चाहते थे; अतः उन्होंने श्री ब्रुक्स को अलग कर दिया।

जवाहरलाल के जन्म के कई वर्ष बाद उनकी बहन विजयलक्ष्मी का जन्म हुआ और कृष्णा का तो उनसे १८ वर्ष बाद जन्म हुआ। इसलिए जवाहरलाल घर में एकमात्र बालक थे और उनकी हर एक इच्छा पूर्ण की जाती थी। शायद इसीलिए उनमें अपनी इच्छा मनवाने की आदत पड़ गई थी। बचपन से ही उन्हें खेलों का बहुत शौक था। घुड़सवारी, तैराकी आदि का भी उन्हें चाव था। आनन्द भवन के अहाते के अन्दर भी एक तालाब था; किन्तु इन्होंने गंगा में तैरना सीखा और इस प्रकार अपने हृदय की उन्मुक्तता का परिचय दिया। खिलाड़ियों में ये सर्वप्रिय थे और उनके बाल-सुलभ झगड़ों को कई बार बड़ी चतुराई से मिटाया करते थे।

१५ वर्ष की अवस्था में जवाहरलाल ने एंट्रेंस पास किया और मई १९०५ में पं० मोतीलाल नेहरू अपने परिवार को लेकर इंग्लैंड गए। जवाहरलाल को वे वहाँ के हैरो स्कूल में दाखिल करवा आए। हैरो स्कूल में पढ़ने के बाद १९०७में ये ट्रिनिटी कॉलिज, कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में प्रविष्ट हुए और वहाँ से जन्तु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान तथा रसायन-शास्त्र में सम्मानसहित बी० ए० पास किया। इनकी विलक्षण प्रतिभा से प्रसन्न होकर यूनिवर्सिटी के अधिकारियों ने इन्हें बिना परीक्षा लिए ही एम० ए० ऑनर्स की उपाधि प्रदान

की। इसके बाद ये 'इनर टेम्पुल' में प्रविष्ट हुए और १९१२ में स्वदेश लौट आए।

मोतीलाल जी ने इन्हें वकालत के काम पर अपने सहायक के रूप में लगा लिया। किन्तु १९१२ में ही ये बाँकीपुर काँग्रेस में सम्मिलित हुए और गोखले के जीवन का इन्होंने अध्ययन किया, जिसका इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

सन् १९१६ में दिल्ली निवासी पंडित जवाहरलाल कौल की सुपुत्री कमलादेवी से इनका विवाह सम्पन्न हुआ। कमला का स्वभाव अत्यन्त सौम्य था। वह सच्चे मन से सास-ससुर की सेवा करती थी। जवाहरलाल ने स्वयं उनके बारे में लिखा है—"उसमें कपट नाम को भी न था।......मुझे ऐसे व्यक्ति कम मिले हैं, जिन्होंने मुझ पर अपनी साफ-दिली का वैसा प्रभाव डाला हो जैसा कि उसने डाला।" सन् १९१७ में उन्हें एक पुत्री की प्राप्ति हुई, जिसका नाम इन्दिरा रखा गया। सन् १९२४ में एक पुत्र भी हुआ, किन्तु कुछ मास बाद ही चल बसा।

भारत माँ के पैरों में पड़ी हुई गुलामी की जंजीरें जवाहरलाल नेहरू के मन में भी खटकती रहती थीं। गोखले की अपील पर जवाहर लाल ने पचास हजार रुपया चंदा एकत्र करके प्रवासी भारतीयों की सहायता के लिए दक्षिणी अफ्रीका भिजवाया। डॉ० एनी बेसेन्ट के होमरूल आन्दोलन में भी वे पर्याप्त भाग लेते रहे। इसके अनन्तर अवध के किसानों में भ्रमण करके इन्होंने काफी जागृति पैदा की।

पंजाब में जब मार्शल लॉ जारी हुआ तो मोतीलाल जी का ब्रिटिश सरकार पर से विश्वास उठ गया। जलियाँवाला बाग की घटना ने जलती पर तेल का काम किया और उस समय गाँधी जी के नेतृत्व में, समस्त भारत में जो आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसमें जवाहरलाल भी सम्मिलित हो गए। विदेशी माल का बहिष्कार आरम्भ होने पर जवाहरलाल बैरिस्टरी त्यागकर स्वाधीनता संघर्ष में जुट गए। इसके बाद उनके जीवन में जेलयात्रा का दौर शुरू हुआ। सन् १९२१ में उन्हें छः मास का कारावास और सन् १९२२ में अठारह मास का कारावास का दंड मिला। इसके बाद भी वे अनेक बार पकड़े गए और जीवन में कुल मिलाकर १०-१२ वर्ष भारत की विभिन्न जेलों में रहे।

इनकी पत्नी कमला ने भी असहयोग आन्दोलन में भाग लिया और इलाहाबाद में विदेशियों की दूकानों पर धरना देने के कारण गिरफ्तार कर ली गई थीं। किन्तु कुछ समय बाद वह बीमार रहने लगीं। जब यह निश्चय हो गया कि कमला नेहरू को क्षय रोग हो गया है, तब (१९२६ में) जवाहरलाल नेहरू उनको इलाज के लिए स्विट्ज़रलैंड ले गए। सन् १९२७ में, जिनेवा में साम्राज्य-विरोधी संघ का अधिवेशन हुआ। नेहरू जी ने उसमें बड़े उत्साह से भाग लिया और उन्हें सामाजवादी विचारधारा का गंभीर अध्ययन करने का अवसर मिला। उसी समय इंग्लैंड के मज़दूर आन्दोलन का भी इन्होंने अध्ययन किया।

उसी वर्ष सोवियत संघ में अक्तूबर क्रान्ति की दसवीं वर्षगाँठ मनाई गई और जवाहरलाल उसमें सम्मिलित होने मास्को गए। इससे पूर्व मार्क्स और लेनिन की पुस्तकों को पढ़कर उनके विचारों में भारी उथल-पुथल हो गई थी। नेहरू जी ने लिखा है—'मार्क्स और लेनिन की पुस्तकों का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे मुझे इतिहास और रोज़मर्रा की घटनाओं को नयी दृष्टि से देखने में सहायता मिली। इतिहास और सामाजिक विकास के इस लम्बे क्रम में मुझे कुछ उद्देश्य दिखाई देने लगा, एक निश्चित क्रम का आभास हुआ और भविष्य के प्रति अस्पष्टता कम हो गई।" अपनी मास्को यात्रा के बाद उन्होंने लिखा—"…इससे मेरा दृष्टिकोण विस्तृत हुआ है और महज राष्ट्रीयता मुझे एक छोटी और अपर्याप्त चीज़ लगती है। इसमें शक नहीं कि राजनीतिक स्वतंत्रता और आजादी महत्व-पूर्ण हैं, लेकिन सही दिशा में ये मात्र एक कदम हैं। सामाजिक स्वतन्त्रता और समाजवादी राज्य की स्थापना के बिना व्यक्ति और देश विकसित नहीं हो सकता।"

१९३६ में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा—"मुझे भारत में गरीबी, भयंकर बेरोजगारी और भारतीयों की मजबूरी का कोई अंत नज़र नहीं आता। समाजवाद ही इन समस्याओं का हल है। इसमें हमें अपने राजनीतिक तथा सामाजिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे। ज़मींदारी प्रथा तथा रियासतों को खतम करना होगा। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना होगा। इनका मतलब होगा

कि हमें कुछ हद तक निजी संपत्ति की प्रथा को समाप्त करना होगा तथा आदर्श सहकारी सेवाओं द्वारा लाभ को बाँटना होगा। हमें अपनी आदतों, इच्छाओं तथा तौर-तरीकों को बदलना होगा। इसका अर्थ है एक ऐसा समाज जो वर्तमान पूँजीवादी समाज से अलग है।"

सन् १९२९ में ये काँग्रेस के अध्यक्ष बनाये गए। इन्होंने काँग्रेस का ध्येय 'पूर्ण स्वाधीनता' घोषित किया।

गाँधी जी ने पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष की जो रूपरेखा बनाई थी, उसके संचालन का भार नेहरू जी पर ही था और इन्होंने समस्त देश का तूफानी दौरा करके जन-साधारण में जोश की एक अभूतपूर्व लहर चलाई। कानून तोड़ना, जेल जाना एक साधारण काम हो गया। इस समय भारत के गाँवों और नगरों में गीत गाए जाते थे—"नेहरू हमारा बादशाह"। जनता के इस बे-ताज बादशाह को अंग्रेज सरकार ने नमक-सत्याग्रह करने पर फिर जेल में डाल दिया। एक वर्ष बाद, समझौते की बातचीत चलने पर ये रिहा किये गये।

इसके अनन्तर गोल मेज परिषदों का दौर चला। ये कान्फ्रेंसें असफल रहीं। तब साइमन कमीशन आया। उसके विरोध का निश्चय किया गया और यू० पी० में इस विरोध का संगठन नेहरू जी ने ही किया था। लाहौर में लाला लाजपतराय पर लाठी प्रहार हुआ, उसी प्रकार लखनऊ में जवाहरलाल पर भी लाठी प्रहार हुआ।

सन् १९३१ में मोतीलाल जी का देहावसान हो गया। १९३४ में बिहार में भीषण भूकम्प आया। उस समय बाबू राजेन्द्र प्रसाद के साथ मिलकर जवाहरलाल ने पीड़ितों की बड़ी सेवा की। इन्हीं दिनों भारत की देशी रियासतों में भी स्वाधीनता का आन्दोलन जोर पकड़ गया। जवाहरलाल से ही इस आन्दोलन को मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता था। जब अंग्रेजों ने देशभक्त नाभा-नरेश को पदच्युत करके अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर नियुक्त कर दिया, तो जवाहरलाल जी नाभा जा पहुँचे और वे पकड़ लिए गए। इस बार इन्हें भारतीय रियासतों की जेल का भी अनुभव हुआ। कुछ समय बाद इन्हें रिहा कर दिया गया।

सन् १९३५ में ये पुनः पकड़े गए और अलीपुर जेल में रखे गए। फिर इनका देहरादून जेल में तवादला हो गया। इसी जेल में इन्होंने 'मेरी कहानी' (आत्मकथा) लिखी। जब इनकी पत्नी वहुत वीमार हो गई तो इन्हें केवल ११ दिनों के लिए छोड़ दिया गया। किन्तु कमला की दशा निरन्तर गिरती चली गई। उन्हें भुवाली सेनिटोरियम में लाया गया। सरकार ने नेहरू जी का तवादिला अलमोड़ा जेल में कर दिया। किन्तु कमला की दशा में सुधार न हुआ; अतः उन्हें इलाज के लिए स्विट्ज़रलैंड ले जाया गया। सितम्बर १९३५में जवाहरलाल जी को ५मास पूर्व ही जेल से रिहा कर दिया गया और वे इन्दिरा को साथ लेकर स्विट्ज़रलैंड चले गए। वहीं लीजोन में २८ फरवरी १९३६ को कमला का देहावसान हो गया।

इसके वाद जवाहरलाल जी इन्दिरा को लंदन स्कूल में प्रविष्ट कराकर भारत आ गए।

अव नेहरू जी का कार्यक्रम ही वन गया था कि आन्दोलन करना, जेल जाना, रिहा होते ही पुनः आन्दोलन करना। इस समय सरकार ने भीषण दमन चक्र चलाया। सत्याग्रहियों को लाठी प्रहार,वेंत प्रहार और गोली प्रहार द्वारा दवाया जाने लगा। सन् १९३६ में लखनऊ काँग्रेस के और १९३७ में फैज़पुर काँग्रेस के अध्यक्ष नेहरू जी ही वनाये गये। इस वार इन्होंने सारे देश का तूफानी दौरा किया और पचास हज़ार मील की यात्रा की। इस यात्रा में पैदल से हवाई जहाज़ तक सव प्रकार की यात्रा इन्हें करनी पड़ी। इस यात्रा के दौरान एक-एक दिन में इन्होने दर्जनों सभाओं में भाषण दिये।

सन् १९३७ में चुनाव हुए। इन चुनावों में काँग्रेस ने जोरों से भाग लिया और ११ में से ७ प्रान्तों में काँग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हो गई। इधर से कुछ निश्चिन्त होकर नेहरू जी वर्मा यात्रा पर चले गए। इसके वाद ये यूरोप यात्रा पर रवाना हो गए। फ्रांस, इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों विस्तृत का भ्रमण करके ये नवम्बर सन् १९३८ में स्वदेश लौट आए। इस यात्रा में इन्हें यूरोपीय देशों की विविध शासन व्यवस्थाओं, विविध जनता और उनकी विचार-धाराओं का गहरा अध्ययन करने का अवसर मिला।

भारत में वापस आकर इन्होंने काँग्रेस की देखरेख में 'राष्ट्र

निर्माण समिति' का सूत्रपात किया। इस समिति की २९ उपसमितियाँ स्थापित कीं और इस प्रकार वैज्ञानिक योजना बनाकर ये राष्ट्र निर्माण के कार्य में जुट गए।

सन् १९३९ में इन्होंने लंका की यात्रा करके लंकावासी भारतीयों के प्रश्न पर पैदा हुई गलतफहमी दूर की और इसके बाद ये चीन गए। उस समय चांग काई शेक चीन के सर्वेसर्वा थे। उन्होंने नेहरू जी का महान् स्वागत किया और उन्हें शाही मेहमान बनाया।

उसी साल द्वितीय महायुद्ध ज़ोर पकड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने अपने साथ भारत को भी युद्ध में झोंकने का निश्चय किया, जिसका कि भारतीय नेताओं ने विरोध किया। उन्होंने सरकार से युद्ध के उद्देश्य पूछे और यह स्पष्ट करने को कहा कि क्या युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जाएगा। सरकार ने इसका स्पष्ट उत्तर देना अनावश्यक समझा। उसके बाद सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस पर सरकार ने सभी नेताओं को जेल में डाल दिया। इस आन्दोलन में भारतीयों ने जो कष्ट सहे और बलिदान दिये,वे स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। जवाहरलाल जी को अहमदनगर के किले में रखा गया था। वहाँ से १९४५ में इन्हें रिहा किया गया। उसके बाद 'शिमला कॉन्फ्रेंस' और 'केबिनेट मिशन' का दौर चला। सन् १९४५ में ही जवाहरलाल जी पुनः कॉंग्रेस के अध्यक्ष बनाए गए।

उसी समय सुभाष बाबू द्वारा संगठित आज़ाद हिन्द फौज के कुछ अधिकारियों पर दिल्ली के लाल किले में मुकद्दमा चलाया गया। उस अवसर पर जवाहरलाल जी २३ वर्ष बाद पुनः वकालत का चोगा निकाल लाए और उन अभियुक्तों की पैरवी के लिए देश के चोटी के वकीलों के साथ लाल किले में जा पहुँचे। इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वे अभियुक्त रिहा कर दिये गये।

सन् १९४६ में हिन्दुस्तान का भारत और पाकिस्तान का विभाजन स्वीकार कर लिया गया और अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। जवाहरलाल नेहरू इस सरकार में प्रधानमंत्री बनाये गए और १५ अगस्त, १९४७ को भारत के शासन का सम्पूर्ण भार इन्हीं के कंधों पर आ गया। प्रधानमंत्री के उत्तरदायित्व के साथ नेहरू जी ने पर राष्ट्र विभाग भी स्वयं संभाला और इसके बाद इन्होंने जिस

दक्षता, धैर्य, कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उससे न केवल भारतीय, बल्कि विदेशी भी उनकी सराहना करने लगे। उन्होंने भारत विभाजन संबंधी समस्याओं को सुलझाया। विस्थापितों के पुनर्वास का प्रबन्ध किया। देश का संविधान तैयार हुआ और २६ जनवरी, १९५० को भारत 'सम्पूर्ण सत्ता सम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य' बना। नेहरू जी ने भारत की विदेश-नीति को स्वतन्त्र बनाया। किसी भी गुट में सम्मिलित न होकर उन्होंने 'सक्रिय तटस्थता' का सिद्धान्त अपनाया। बांडुंग में एशियाई राष्ट्रों की विशाल कॉन्फ्रेंस बुलाकर इन्होंने अपना 'पंचशील' का सिद्धान्त स्वीकृत कराया। इससे विश्व के देशों में तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के सम्मान में वृद्धि हुई। कोरिया, कांगो, साइप्रस, वियतनाम आदि प्रश्नों पर भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ को विविध प्रकार की सहायता प्रस्तुत की। इस प्रकार नेहरू जी ने अपने मानवतावाद, विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति सम्बन्धी विचारों को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया और संसार के विचारकों ने उनके इन विचारों की कद्र की। वे भारत में केवल लोकतंत्र की स्थापना से ही सन्तुष्ट न थे; बल्कि करोड़ों लोगों की गरीबी दूर करने में सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना मानते थे। संसद् में एक बार उन्होंने कहा था—"पहले लोकतंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक लोकतंत्र हुआ करता था; अर्थात् हरएक नागरिक को वोट देने का अधिकार; लेकिन ऐसे व्यक्ति के लिए वोट का क्या महत्त्व है, जो भूखा और बेबस है। ऐसा व्यक्ति वोट से ज्यादा रोटी में दिलचस्पी लेगा। राजनीतिक लोकतंत्र अपने आप में तब तक पूर्ण नहीं है, जब तक इसका इस्तेमाल लोकतंत्र की प्राप्ति के लिए न किया जाए। देशवासियों को जरूरत की सभी चीज़ें उपलब्ध होनी चाहिएँ तथा असमानता दूर की जानी चाहिए।"

इतना होते हुए भी नेहरू जी संसदीय प्रणाली के प्रबल समर्थक थे। उनका मत था कि संसद् को सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए एक प्रभावकारी माध्यम बनना चाहिए। लोकतंत्र के उद्देश्य के बारे में उन्होंने कहा—"अधिक से अधिक लोगों में विश्वास करके उन्हें यह महसूस कराया जाए कि वे देश, सरकार तथा उद्योगों को चलाने में हिस्सेदार हैं। सोवियत रूस इस स्थिति तक पहुँच चुका है; लेकिन भारत इस मामले में अभी काफी पीछे है। ताना-

शाही, गलत तथा भद्दे तरीके अपनाने और विरोधियों की निन्दा करने के कारण मुझे अकसर कम्युनिस्टों से चिढ़ होती है। फिर भी इस नयी सामाजिक व्यवस्था से मैं प्रभावित हूँ, क्योंकि यह एक प्रगतिवादी सामाजिक व्यवस्था है।"

सोवियत संघ की आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित होते हुए भी वे आँख मूँदकर किसीके अनुकरण में विश्वास न रखते थे और संसद् में ही उन्होंने एक बार कहा था—'मार्क्सवाद एक पुरानी चीज़ पड़ गई है और दुनिया आगे बढ़ चुकी है।"

वे अमेरिका, रूस, इंग्लैंड आदि सभी के गुण ग्रहण करने और दोष परित्याग के लिए सदैव तत्पर रहते थे। सभी के सामंजस्य और विचार में संतुलन रखने के कारण उनकी ओर विश्व के राजनीतिज्ञ बड़े आश्चर्यपूर्ण सम्मान के साथ देखते थे। उन्होंने रूस और अमेरिका के साथ एक साथ मित्रता सम्बन्ध बनाये रखा। यही नहीं, एक समय तो इन्होंने केनेडी और ख्रुश्चेव को पास-पास लाने में सहायता पहुँचाई। रूस का बाह्य संसार से सम्बन्ध-विच्छेद सा था। नेहरू जी के प्रयत्नों से रूस भी अपनी लौह प्राचीर से बाहर आया।

अपने आर्थिक और औद्योगिक उद्देश्यों को उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा साकार करने का प्रयत्न किया। बड़े उद्योगों और वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना के कारण भारत सदैव उनको स्मरण करता रहेगा। राष्ट्रव्यापी बाँध और परियोजनाएँ उन्हीं की देन हैं।

वे स्वतन्त्र विचारों के थे। उनको जल्दी ही क्रोध भी आ जाता था; परन्तु एक बार निर्णय होने पर वे अनुशासन के बड़े पाबन्द थे। स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में एक बार भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—"जवाहरलाल तलवार चला सकता है, जवाहरलाल बन्दूक चला सकता है, लेकिन गाँधी जी का हुक्म नहीं है, इसलिए नहीं चलाता।"

प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने के उपरान्त उन्हें अनेक देशों से निमंत्रण मिले और जहाँ जहाँ वे गए, उनका अपार स्वागत हुआ। उनका चौड़ा मस्तक, तेज-भरी आँखें, पतले और कुछ कहते-से ओंठ, स्फूर्ति, धधकती ज्वाला-सा रूप, सुडौल नाक, मनमोहक ठोड़ी, मोहक मुस्कान आदि से उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। अनेक

परस्पर-विरोधी गुणों का उनमें अपूर्व संगम था। वे विज्ञान पर भी उतने ही अधिकारपूर्ण भाषण दे सकते थे, जितने कला पर। वे बुद्धि और चतुराई, वाक्कौशल और व्यवहार निपुणता में बहुत बढ़-चढ़ कर थे। व्यक्ति को देखते ही उस पर अपना मोहक प्रभाव डाल देते थे। दूसरे के हृदय की बात आँकने में वे बहुत माहिर थे।

किन्तु चाऊ एन लाई उन्हें धोखा देने में समर्थ हो गया, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। चीन ने सन् १९६२ में भारत पर आक्रमण किया। तब उन्होंने कहा था—"अब तक हम सपनों की दुनिया में थे। अब कठोर सत्यों का हमें अनुभव हुआ है।" चीन के आक्रमण की भारत को कल्पना भी न थी। वस्तुतः उसने 'हिन्दी चीनी भाई भाई' का नारा लगाकर भारत की पीठ में छुरा भोंक दिया। किन्तु जब देश और विदेशों में भी नेहरू के सम्मान को ठेस लगने लगी तो उन्होने अपना ब्रह्मास्त्र चलाया। संसार के सौ से ऊपर देशों के शासन-प्रमुखों को उन्होंने पत्र लिखकर स्पष्ट बताया कि आक्रमण करके दो राष्ट्रों की किसी समस्या के समाधान का हल करने में हमारा विश्वास नहीं। चीन ने भारत पर बिना उत्ते-जना तथा बिना किसी कारण के आक्रमण किया है। हम मित्रता के लिए जी-जान से प्रयत्न करते रहे हैं; किन्तु आक्रमणकारी को आक्रमण का लाभ देने के लिए तैयार नहीं हैं।

नेहरू जी के इस ब्रह्मास्त्र से विश्व-जनमत का भारी दबाव चीन पर पड़ा। बहुत से देशों ने उसके आक्रमण की खुली निन्दा की और जिन कुछेक देशों ने उसकी निन्दा न की, उन्होंने भी इतना कहा कि सभी देशों को आपसी मतभेद शस्त्रों द्वारा नहीं, बल्कि आपसी वार्तालाप द्वारा तय करने चाहिएँ। विश्व-जनमत के इस भारी दबाव का ही यह प्रभाव था कि चीन को जीतकर भी पीछे हटना पड़ा। उस समय रूस के प्रधान मंत्री ने कहा था—"चीन ने अपनी फौजों को वापस बुलाकर अक्लमंदी का काम किया है और इससे भी बढ़कर अक्लमंदी होती यदि वह अपनी फौजें वहाँ भेजता ही नहीं।" वस्तुतः इतिहास साक्षी है कि नेहरू जी की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के बल पर ही भारत का वह संकट टल सका।

तथापि इनसे नेहरू जी के मन को गहरा धक्का लगा। उनका

शरीर रुग्ण रहने लगा और २७ मई १९६४ को इस महामानव का देहावसान हो गया।

वह हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों को बहुत प्यार करते थे। हिन्दुस्तानियों ने भी उन्हें इतना प्यार और आदर दिया, जितना शायद ही किसी अन्य व्यक्ति को दिया हो।

साहित्य पथ

- ● तुलसीदास
- ○ टॉलस्टाय
- ● रवीन्द्रनाथ ठाकुर

किसी भी देश का साहित्य उस देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक अवस्था का प्रतिविम्ब होता है। श्रेष्ठ साहित्य समाज में जीवन का संचार कर देता है। भारत में वाल्मीकि, वेदव्यास, भास, कालिदास आदि महान् साहित्यकारों ने जिस पथ का निर्माण किया, उसी पर चलते हुए मध्य युग में गोस्वामी तुलसीदास ने समाज को एक ऐसा ग्रन्थ रत्न प्रदान किया, जो करोड़ों मानवों के लिए, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आलोक-स्तम्भ का काम देता है।

टॉलस्टाय का जीवन इस बात का सजीव प्रमाण है कि लेखनी के बल पर समाज में महान् क्रान्ति लाई जा सकती है। इन्होंने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में फैले हुए भ्रष्टाचार, पाखंड और अत्याचार के विरुद्ध खूब लिखा। इन्होंने अपनी डायरी में लिखा था—"कितनी भी बड़ी प्रतिभा क्यों न हो, उसे सार्वजनिक कार्यों से तटस्थ रहने का बहाना नहीं बनाया जा सकता है।" केवल रूस ही नहीं, संसार के लोग इस महान् मनीषि साहित्यकार के चिर-ऋणी हैं और भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों पर जितना इस साहित्यकार का प्रभाव पड़ा, उतना किसी का नहीं। इन्हीं की पुस्तकों के अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त करके गांधी जी जन-सेवक बने।

तुलसी और टॉलस्टाय की भांति ही रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ देशकालातीत हैं। इन्होंने विश्वमानवता की कल्पना का सजीव चित्र अपने साहित्य द्वारा प्रस्तुत किया। संकीर्ण मनोवृत्ति को अपने उदात्त विचारों द्वारा उदार बना देने की महान् शक्ति के कारण ही वे विश्वकवि कहलाए। उनके साहित्य की महती शक्ति ने न केवल उन्हें महान् बनाया, अपितु भारत को भी विश्व की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया।

: १० :

तुलसीदास

हिन्दी-साहित्य के विगत एक सहस्र वर्ष के इतिहास में किस कवि का नाम सबसे उज्ज्वल है, किसकी रचना सबसे श्रेष्ठ है, किसकी रचना ने संस्कृति और समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है—इन सभी प्रश्नों का उत्तर है तुलसीदास। तुलसीदास के समय को हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इसे स्वर्णकाल भी कहते हैं। इस काल में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण साहित्य की रचना हुई। सूरदास और तुलसीदास की ही गणना इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इन दोनों में भी सामाजिक दृष्टि से तुलसीदास को ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है।

जिस समय तुलसीदास का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय देश की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी विषम थीं। धार्मिक क्षेत्र में हठयोगियों और नाथपंथियों का जाल फैला हुआ था। ये मतवादी जीवन की वास्तविकता से अनभिज्ञ थे। तान्त्रिक क्रियाओं में जनता का चारित्रिक स्तर गिरता जा रहा था। अशिक्षा और मूढ़ता का बोलबाला था। आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा शारीरिक प्रक्रियाओं में ही लोग उलझे हुए थे। शैवों और वैष्णवों का परस्पर तीव्र विरोध चलता था। ऐसी अवस्था में जनता दार्शनिक दृष्टि से दुर्बल हो रही थी। दूसरी ओर समस्त भारतीय आस्थाओं का खंडन करते हुए आक्रमणकारी अपनी मान्यताओं की स्थापना कर रहे थे। ऐसे समय में तुलसीदास के प्रादुर्भाव से सभी मत-मतान्तरों में समन्वय की स्थापना हुई। उन्होंने मतवाद सम्बन्धी

विरोधों को दूर करके जनता में एक सामान्य दार्शनिक विचारधारा का प्रचार किया। उन्होंने दूसरों के मत के प्रति सहनशीलता और चरित्र-सम्बन्धी मर्यादा-पालन को प्रमुख स्थान दिया। साकार के उपासक होने पर भी उन्होंने निराकार उपासना के महत्व को कम नहीं बतलाया। रामभक्त होने पर भी उन्होंने सभी देवी-देवताओं को नमस्कार किया। इस प्रकार नाना सम्प्रदायों में समन्वय लाकर उन्होंने देश की जनता में भावनात्मक एकता लाने का महान् प्रयत्न किया। अपने काव्य के नायक को उन्होंने शील और सदाचार के आदर्श रूप में उपस्थित किया। भक्ति के साथ-साथ उन्होंने सांसारिक कर्तव्यों की पालना पर बल दिया। सदाचार और मर्यादा-पालन का समर्थन करके उन्होंने समाज को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। आदर्शवाद के साथ बुद्धिवाद का उन्होंने सामंजस्य किया। समाज की व्यवस्था को भंग करने वाली किसी भी क्रिया का उन्होंने समर्थन नहीं किया। उन्होंने अपने साहित्य में समाज के सभी अंगों का चित्रण किया। राजा से रंक तक, नर-नारी और शिशु से वृद्ध तक सभी अवस्थाओं के पात्रों का उन्होंने चरित्र-चित्रण किया। पारिवारिक सम्बन्धों और लौकिक व्यवहारों के आदर्श रूप को उन्होंने बड़े रोचक और व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने अपने कवित्व द्वारा भारतीय जनता का नेतृत्व किया।

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म संवत् १५५४ में, उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले के राजापुर गाँव में हुआ। कुछ लोग इनका जन्म-स्थान 'सोरो' मानते हैं। इनकी माता का नाम हुलसी तथा पिता का नाम आत्माराम दुबे था।

जन्म के कुछ समय बाद ही इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था; क्योंकि इनका जन्म ऐसे नक्षत्र में हुआ था, जिसे उस समय अशुभ माना जाता था। इनका पालन-पोषण मुनिया नाम की एक दासी ने किया था।

कुछ होश संभालने पर ये बाबा नरहरिदास के आश्रम में चले गए। वहीं इन्होंने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर ये काशी में महात्मा शेष-सनातन के शिष्य हो गए। उन्होंने तुलसीदास को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया।

विद्या प्राप्त करने के अनन्तर तुलसीदास को अपने गाँव की

सुधि आई। ये जब वहाँ पहुँचे, तब तक इनके माता-पिता स्वर्ग सिधार चुके थे। एकाकी जीवन का सूनापन इन्हें खलने लगा।

कुछ समय उपरान्त समीप के ही एक अन्य गाँव के निवासी दीनबन्धु पाठक की दृष्टि इस विद्वान्, तेजस्वी, गौर-वर्ण युवक पर पड़ी। उन्होंने अपनी गुणवती एवं रूपवती पुत्री रत्नावली का उससे विवाह कर दिया। यौवन के मद में तुलसीदास सब कुछ भूल गए। पत्नी पर उन्हें इतना अनुराग था कि उसके बिना वे एक पल भी नहीं रह सकते थे। एक बार जब वह अपने पितृ-गृह चली गई तो वे आँधी-पानी की परवाह किए बिना ससुराल जा पहुँचे।

रत्नावली ने जब इन्हें देखा, तो लाज से गड़ गई। वह बोली—"आप इस प्रकार मेरे पीछे क्यों दौड़े आए? अनिमंत्रित ही ससुराल में आकर आपने उचित नहीं किया। मेरे अस्थि-चर्ममय देह में जैसी आपकी प्रीति है वैसी यदि भगवान में होती तो आपका जीवन सफल हो जाता।"

तुलसीदास ने जब यह सुना, तो उनके अन्तःकरण से अज्ञान का अंधकार हट गया। उसमें एकदम परिवर्तन हुआ। समस्त विचार और शिक्षा के संस्कार जाग उठे। देश की दशा आँखों के सामने आ गई। जीवन का लक्ष्य उनके सामने फिर से चमक उठा।

उन्होंने पत्नी से कहा—"अच्छा, अब चलते हैं। तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं।"

रत्नावली सकपका गई। वह पछताई कि उसने क्या कह दिया। उसने पति को रोकने का भी प्रयास किया; किन्तु तुलसीदास चले गए।

सम्पूर्ण देश के तीर्थ स्थानों की यात्रा करने, गाँवों और नगरों का भ्रमण करने, सन्तों-महात्माओं से साक्षात्कार करने और विचारकों से धर्म-चर्चा करने में ही तुलसीदास का समय व्यतीत होने लगा। उन्होंने जनता के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों का सूक्ष्म अध्ययन किया। सभी धार्मिक सम्प्रदायों के नियमों और आदेशों पर गंभीरता से विचार किया। समाज और देश का उत्थान कैसे हो, यही चिन्ता हर समय इनके मन में रहती थी। इनकी जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु कवियों का काव्य ही उनका जीवन होता है। इनके कवित्व में उनका हृदय मुखरित होता है।

७७ वर्ष की परिपक्व अवस्था में, संवत् १६३१ में उन्होंने अयोध्या में रहकर 'रामचरितमानस' की रचना आरम्भ की। इस ग्रंथ के सम्पूर्ण होने में अनेक वर्ष लग गए। इसके लिए उन्होने उस समय तक प्राप्त राम-सम्बन्धी सभी काव्यों का गहन अध्ययन किया। जब 'रामचरितमानस' ग्रन्थ तैयार हो गया, तो पहले पंडितों ने उसे उपेक्षा-दृष्टि से देखा; क्योंकि उस समय तक संस्कृत में ही ग्रन्थ-रचना को महत्व दिया जाता था। परन्तु शीघ्र ही 'रामचरितमानस' की काव्य-तरंगों से लोग तरंगायित होने लगे। तुलसीदास जी के मुख से जिन विद्वानों ने इस महाकाव्य के कुछ भी अंश सुने, उन्होंने इसकी मुक्तकंठ से सराहना की। तुलसीदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके काव्य में सौन्दर्य की पराकाष्ठा प्रकट हुई। विद्वानों को उनकी वाणी दिव्य प्रतीत हुई। उनके काव्य में सब प्रकार की काव्य-पद्धतियों तथा प्रचलित भाषाओं का मधुर रूप सामने आया। गोस्वामी जी अत्यन्त भावुक थे। इनकी भक्ति-भावना सरल थी। इनके काव्य के भाव सब की समझ में आने वाले थे। इनके काव्य ने उस समय के समाज मे आशावाद का संचार किया। उच्छ्ृंखलता उन्हें काँटे के समान खटकती थी। वे शील और सदाचार को ही जीवन का आधार मानते थे। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में प्रवन्ध-निर्वाह, देश-काल चित्रण, वाह्य दृश्य चित्रण, अलंकार-विधान, रस, ध्वनि आदि सभी काव्य-गुण उत्तम रूप में प्रकट हुए।

शीघ्र ही तुलसीदास का महाकाव्य रामचरितमानस जन-जन का कण्ठहार हो गया। कारण यह था कि इसकी भापा भावों के अनुकूल है। शव्द-चयन वहुत ही उपयुक्त है। भाव और विचार ऐसे हैं, जिनसे परिवार, समाज, जाति तथा देश की रक्षा हो। उन्होंने अपने काव्य में यह बताया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक मर्यादा और व्यक्तिगत कर्तव्य का पालन अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने अपने काव्य द्वारा यह वतलाया है कि राम के शील, सौन्दर्य और शक्ति की उपासना करनी चाहिए।

तुलसी से पूर्व हिन्दी के कवि जीवन के किसी एक ही पक्ष को लेकर चले हैं। परन्तु गोस्वामी तुलसीदास की वाणी की पहुँच मनुष्य के सम्पूर्ण भावों, समस्त विचारों और समस्त व्यवहारों तक है। इनका लक्ष्य है सम्पूर्ण समाज का चित्रण, समाज के प्रत्येक

प्रकार के व्यक्ति का निरूपण और प्रत्येक के कर्तव्य की सूक्ष्मता से व्याख्या। इन्होंने काव्य के द्वारा समाज के सम्मुख सांसारिक जीवन तथा आध्यात्मिक चिन्तन में ताल-मेल स्थापित करने का मार्ग रखा। इनका काव्य जीवन की प्रत्येक प्रकार की समस्याओं में पथ-प्रदर्शन करने वाला तथा जीवन में उदात्त गुण लाकर उसे ऊँचा उठाने वाला है।

रामचरितमानस के अतिरिक्त तुलसीदास ने कई अन्य रचनाएँ कीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—गीतावली, कवितावली, दोहावली, कृष्ण गीतावली, विनयपत्रिका, वरवै रामायण, जानकीमंगल, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, पार्वती मंगल और रामाज्ञा प्रश्न। किन्तु सभी दृष्टियों से विचार करने पर 'रामचरितमानस' ही इनकी सबसे श्रेष्ठ रचना ठहरती है।

तुलसीदास के काव्य के नायक राम हैं। कवि ने उनके लोक-रंजक और लोकरक्षक दोनों रूपों को सामने रखा है और उनके सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत चित्रण किया है। इस प्रकार तुलसी का काव्य विषय अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने राम के पूर्ण जीवन की झाँकी दिखाने का प्रयास किया है। उनके चरितनायक मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनका जीवन शील और सदाचार का आदर्श है। कवि ने पग-पग पर चरितनायक की शालीनता की रक्षा की है। उन्हें बाल्यकाल से ही बुद्धिमान, योग्य, गंभीर, उदार और भद्र-व्यवहार करने वाले बतलाया है। वे बन्धु, सखा और सेवकों की सराहना करते और उन्हें तरह-तरह के उपहार देते हैं। युवा होने पर भी उनका जीवन सब प्रकार से मर्यादित है। तुलसीदास ने उनके प्रेम वर्णन को भी चितवन, मुस्कान और दर्शन-अनुराग तक ही सीमित रखा है। उन्होंने हर्ष, विषाद, शोक और स्नेह के मर्म-स्पर्शी चित्र उपस्थित किये हैं। तुलसीदास का काव्य मानव-काव्य है। इस महान् कवि का देहावसान काशी में, गंगा के किनारे असीघाट पर संवत् १६८० में हुआ।

: ११ :

टॉलस्टाय

टॉलस्टाय रूस देश के एक महान् पुरुष थे। वे बहुत देशभक्त थे; किन्तु उनका मानव-प्रेम विश्व-व्यापी था। वे धर्म-प्रिय, समाज सुधारक, योद्धा और तत्वज्ञानी थे। उन्होंने उपन्यासों तथा निबन्धों द्वारा अपने विचार प्रकट किये। संसार के जितने भी पराधीन देश थे, उनके प्रति टॉलस्टाय को बड़ी सहानुभूति थी। वे सबको स्वतन्त्र देखना चाहते थे।

टॉलस्टाय का जन्म सन् १८२० में, रूस की राजधानी मास्को से कुछ ही मील दूर, यरन्या पोलायाना नामक स्थान पर हुआ। इनका पूरा नाम लियो टॉलस्टाय निकोलालेविच था। टॉलस्टाय अभी तीन ही वर्ष के हुए थे कि इनकी माँ का तथा नौ वर्ष के हुए तो इनके पिता का देहावसान हो गया था।

टॉलस्टाय के बाप-दादा सेना-विभाग में नौकरी करते आये थे और उनमें से कई तो प्रसिद्ध योद्धा हो चुके थे। पिता के बाद टॉल-स्टाय का पालन-पोषण इनकी चाची ने किया। वह काजान शहर में रहती थी और दिन-रात ऐश्वर्य-भोग में लीन रहती थी। प्रति-दिन दावतें उड़तीं और शरावों के दौर चलते थे। इसके बाद नाच-रंग और खेल-तमाशे चलते रहते थे।

टॉलस्टाय पन्द्रह वर्ष की अवस्था में काजान विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। पढ़ाई-लिखाई में इनकी रुचि न थी। घर के वाता-वरण का इन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि विश्वविद्यालय में कुछ साथी जुटाकर ये आमोद-प्रमोद में मग्न रहने लगे। पिता-पितामह बहुत बड़ी सम्पत्ति छोड़ गए थे; अतः पैसे की कोई कमी न थी।

किन्तु शीघ्र ही टॉलस्टाय का स्वास्थ्य बिगड़ गया। कच्ची कलियाँ लू के झोंकों को सहन नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार अवस्यक शरीर सुख-भोग से कुम्हला जाता है। किन्तु टॉलस्टाय को फिर भी होश न आई। उन्होंने सोचा—"पढ़ना-लिखना सब बेकार है। पैसा कमाने के लिए या यश पाने के लिए लोग पढ़ते हैं। जब पैसा काफी है और खानदान का यश भी भरपूर है, तो मुझे काले कुत्ते ने काटा है कि साधारण घरानों के बालकों की तरह पढ़ूँ और मेहनत करूँ?" इस तरह का विचार आते ही टॉलस्टाय अपनी ज़मींदारी पर जा पहुँचे और अधिकारी नौकरों के हाथों से ज़मींदारी का काम अपने हाथ में ले लिया।

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

जवानी, धन संपत्ति, प्रभुता और अविवेक—इनमें से एक-एक भी अनर्थ का कारण होता है; जहाँ चारों एकत्र हों, वहाँ मनुष्य के भटकने में क्या देर लगती है।

बस, टॉलस्टाय भी शिकार, जुए, खान-पान, नाच-रंग और आमोद-प्रमोद में अपना सारा समय व्यतीत करने लगे। ज़मींदारी से बहुत भारी आय थी, किन्तु टॉलस्टाय ने व्यय की गति बढ़ा दी, आय पीछे रह गई। ऊँचे खानदान के युवक को हर कोई ऋण देने के लिए तैयार था। ऋण की कोई सीमा नहीं। किराया और ऋण—ये दोनों जंगली पौधों की तरह बहुत तेज़ी से बढ़ते हैं। अब ऋण को चुकाने के लिए और ऋण लिया जाने लगा। परिणाम वही हुआ कि लोग अधेली देकर हवेली लिखवाने लगे। टॉलस्टाय जहाँ गर्व से छाती फुलाकर घूमते थे, वहाँ मुँह दिखाना भी मुश्किल हो गया।

एक दिन चुपचाप काफ पहाड़ पर चले गए। वहाँ एक कुटीर बनाकर एकान्तवास करने लगे। वहाँ अब वे पुस्तकों का अध्ययन भी करने लगे।

परन्तु 'सब दिन होत न एक समान।' उन्हीं दिनों क्रीमिया की लड़ाई शुरू हो गई। टॉलस्टाय की धमनियों में पुरखों की वीरता का उत्साह उमड़ने लगा। वे सेना में जाकर भर्ती हो गए। उस समय उनकी अवस्था तेईस वर्ष की थी। टॉलस्टाय ने अवैतनिक रूप से सेना में सेवा स्वीकार की। युद्ध में उन्होंने बड़ी कुशलता, वीरता

और सूझ-बूझ का परिचय दिया। शीघ्र ही इन्हें सेवैस्टोपोल के पहाड़ी गढ़ की सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया गया।

सेना का काम देखने से जब फुर्सत मिलती तो ये सेवैस्टोपोल की लड़ाई की कहानियाँ लिखते थे। इन कहानियों से रूस की सेना में वीरता के महान् भावों का संचार हुआ। रूस के बादशाह ने आज्ञा दी कि टॉलस्टाय को सेना-विभाग से छुटकारा देकर इनसे प्रार्थना की जाए कि ये युद्ध के विस्तृत वृत्तान्त को एक बड़े ग्रन्थ के रूप में लिखें।

उस समय रूस की राजधानी पेट्रोग्रेड थी। टॉलस्टाय जब पेट्रोग्रेड पहुँचे तो इनका ऐसा स्वागत हुआ, जैसा किसी देश के महान् पुरुष का होना चाहिए। समाज के सभी वर्गों के लोग इनका स्वागत करने आए। राजधानी में भारी हलचल मची हुई थी। सब तरफ यदि कोई चर्चा थी, तो यही कि टॉलस्टाय पधारे हैं।

प्रतीत होता है कि एकान्तवास के कुछ समय में पश्चात्ताप के जल से उनके सभी कलमष धुल गए थे और उनका मन उन्नत हो चुका था। इसी कारण युद्ध में कुशलता और वीरता दिखलाकर यश और सम्मान पाना संभव हुआ और सेवैस्टोपोल की लड़ाई की कहानियों से उनकी महान् देशभक्ति तथा साहित्य-रचना की कुशलता प्रकट हुई थी। इस साहित्य-रचना ने उनकी कीर्ति सम्पूर्ण देश में प्रसारित कर दी।

पेट्रोग्रेड में हुए महान् स्वागत का टॉलस्टाय पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उस स्वागत के लिए अपने आपको पूरी तरह योग्य बनाने का निश्चय किया।

उन्होंने फ्रांस के महान् लेखक, समाज-सुधारक तथा तत्वज्ञ रूसो के ग्रंथों का गंभीर अध्ययन आरम्भ किया। इन ग्रन्थों के अध्ययन ने उनके जीवन को पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। उनका ध्यान देश की समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों रूस में गुलामी की कुप्रथा विद्यमान थी। ज़मींदारों का काश्तकारों से बेगार लेना एक आम बात थी। काम के बदले वेतन तो क्या देना, मार-पीट तक करना अपना अधिकार समझते थे।

टॉलस्टाय ने सोचा कि इस कुप्रथा को दूर करना चाहिए; नहीं तो देश का कल्याण नहीं होगा। वे अपनी ज़मींदारी में चले गए।

एक आदर्श ज़मींदार के रूप में इन्होंने काम शुरू किया। ये किसानों से समानता का व्यवहार करते थे। इन्होंने किसानों के लिए एक पाठशाला खोली। उसमें ये स्वयं भी पढ़ाते थे। इस पाठशाला की सफलता को देख इन्होंने कई और पाठशालाएँ खोलीं। इनका भारी विरोध होने लगा। लोगों का कहना था कि यदि सब लोग शिक्षित हो जाएँगे, तो किसान-मज़दूर का काम कौन करेगा ?

टॉलस्टाय का मत था—'हर एक बालक, चाहे उसका जन्म कैसी भी परिस्थितियों में हुआ हो, शिक्षा पाने का अधिकारी है। बादशाह तथा धनाढ्य लोगों का यह कर्तव्य है कि देश के प्रत्येक बालक की शिक्षा का वे पूर्ण प्रबन्ध करें। जैसे मनुष्य मात्र के शरीर के लिए भोजन, तन को ढकने के लिए कपड़ा आवश्यक है, इसी प्रकार अज्ञान को दूर करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।"

टॉलस्टाय का उद्देश्य अच्छा था; किन्तु उनका घोर विरोध हुआ। यहाँ तक कि उन्हें अपने सभी विद्यालय बन्द कर देने पड़े। किन्तु टॉलस्टाय हताश न हुए। उन्होंने अपने उद्देश्य को न छोड़ा, केवल मत-प्रचार के लिए साधन में परिवर्तन कर दिया। वे उपन्यास लिखने लगे और उनके द्वारा इस विचार का प्रचार किया कि ऊँचे वर्ग के धनी लोग उन लोगों के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं समझते, जो निर्धन होने के कारण उनके अधीन हैं।

टॉलस्टाय की लेखनी बड़ी पैनी, मर्मस्पर्शी और यथार्थपूर्ण थी। उनके उपन्यासों की सारे देश में धूम मच गई। देश के बाहर भी उनका यश पहुँच गया और यूरोप की कई भाषाओं में उनके अनुवाद हुए। इन्हीं दिनों टॉलस्टाय का विवाह हो गया। इन्हें सन्तान की भी प्राप्ति हुई; किन्तु ये हर समय साहित्य-रचना और विचारों के प्रचार में लगे रहते थे और इनकी स्त्री इन पर कुपित रहती थी।

इन पुस्तकों के द्वारा टॉलस्टाय अपने देश के पीड़ितों के प्रिय नेता बन गए। किन्तु ज़मींदार, धनाढ्य और बादशाह उन पर बहुत रुष्ट हुए। उनके साहित्य को 'विद्रोह फैलाने वाला साहित्य' समझा गया। सरकार ने टॉलस्टाय की पुस्तकों को ज़ब्त कर लिया। उनके प्रकाशन पर रोक लगा दी। टॉलस्टाय के सहायकों और मित्रों को दण्ड दिया गया। टॉलस्टाय के पत्र सेंसर होने लगे। उनकी हरएक गतिविधि पर निगरानी रखने के लिए जासूस नियुक्त कर दिए गए।

किन्तु टॉलस्टाय ज़रा न घबराये। वे अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहकर विचारों का प्रचार करते रहे। उनका विचार था कि यह अनुचित है कि एक ओर तो धनी लोग इस प्रकार का भोजन करें और इस प्रकार के कपड़े पहनें, जो मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक नहीं और उनके चारों ओर ऐसे लोग हों, जिन्हें पेट भरने को भोजन और तन ढकने को कपड़ा न हो। अपने विचारों को उन्होंने परोपदेश तक ही सीमित न रखा; बल्कि यह निश्चय किया कि वे समस्त सम्पत्ति जनसाधारण में बाँट देंगे।

उनकी इस बात का पत्नी तथा पुत्रों ने घोर विरोध किया और मामला कचहरी तक ले गए। तब टॉलस्टाय ने अपनी सारी धन-सम्पत्ति का त्याग कर दिया और एक कुटिया बनाकर दीनों की भाँति रहने लगे। वे स्वयं अपने हाथ से खेती करने लगे। मांस खाना छोड़ दिया। बहुत मामूली साग-पात और सादे भोजन पर निर्वाह करने लगे। कृषि कर्म से बचे समय में वे साहित्य-रचना करते थे। देश की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का गहरा अध्ययन करने के कारण, उनकी रचनाओं में ऐसी यथार्थता आ गई कि उन्हें जनता बड़े प्यार से पढ़ने लगी। प्रायः कहानी और उपन्यास के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त किया। दीनों और साधारण जनों के वास्तविक जीवन को चित्रित करने के लिए वे साहित्य-रचना करते थे। शराब आदि बुराइयों का वे बड़ा विरोध करते थे। उनकी रचनाएँ विश्व मानवता की भावना से ओत-प्रोत हैं। हिंसा को भी उन्होंने मानवता के लिए त्याज्य बतलाया है। मानव-मात्र के दुःख-दर्द से वे करुणार्द्र हो उठते थे। संसार से दुःख, पीड़न, शोषण और अन्याय के विरुद्ध उन्होंने आवाज़ उठाई। इसीलिए वे महात्मा कहलाए।

उनके मन में संन्यास धारण करने की इच्छा हुई। इस समय वे अस्सी वर्ष के हो चुके थे। अपनी पत्नी को उन्होंने एक पत्र में लिखा—"मुख्य बात यह है कि प्राचीन आर्यों की भाँति जो साठ वर्ष की अवस्था के निकट वन में चले जाते थे और सच्चे धार्मिक पुरुषों की भाँति अपना अन्तिम समय ईश्वर की आराधना में व्यतीत करते थे, न कि खेलों और गप्पों में; मेरी भी अपनी अस्सी वर्ष की अवस्था में यह प्रबल इच्छा है कि मुझे शान्ति प्राप्त हो, एकान्त मिले और मेरे जीवन के कार्य और विश्वास में एकता हो।"

घर वालों ने, श्रद्धालु भक्तों ने तथा मित्रों ने वहुत समझाया कि घर पर ही विरक्त होकर रहा जा सकता है। परन्तु ८२ वर्ष की अवस्था में ये घर-बार छोड़कर वन की ओर चल पड़े। कुछ ही दिनों वाद यात्रा करते हुए एक सराय में, सन् १९१० में इनका देहावसान हो गया।

टॉलस्टाय की सबसे प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं—'युद्ध और शान्ति' 'अन्ना करेनिना', 'क्रूज़र सोनाटा' और 'रिसरेक्शन।' महात्मा गाँधी पर महात्मा टॉलस्टाय की रचनाओं का वहुत प्रभाव पड़ा था। दुर्वल के अहिंसक प्रतिरोध का विचार उन्हें टॉलस्टाय की रचनाओं से ही प्राप्त हुआ था।

: १२ :

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

साहित्य और संस्कृति ही किसी समाज के प्राण होते हैं। साहित्यकार अपनी रचनाओं से समाज में उदारता, सहृदयता, शालीनता आदि मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करता है। भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना होने पर पश्चिमी साहित्य और सभ्यता की चकाचौंध से भारतीय प्रतिभा कुण्ठित होने लगी। अंग्रेज़ अधिकारी और लेखक भारतीयों को जंगली और अर्द्ध सभ्य बताने में कुछ कसर न रखते थे। इसी समय भारत में एक ऐसी ज्योति का उदय हुआ, जिसकी साहित्यिक कृतियों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सही स्वरूप विश्व के सम्मुख रखा। रवीन्द्रनाथ भारतीय सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के अनन्य भक्त थे; किंतु उनकी यह भक्ति पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य के उत्तम गुणों को ग्रहण करने की विरोधी न थी। रवीन्द्रनाथ ने पूर्व और पश्चिम की संस्कृति में एक अपूर्व सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनकी प्रतिभा देशकालातीत थी। उनकी रचनाएँ समस्त विश्व ने 'अपनी' समझकर अपनायीं और टैगोर विश्वकवि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

रवीन्द्रनाथ का जन्म ७ मई सन् १८६१ को बंगाल के एक ठाकुर परिवार में हुआ, जो अंग्रेज़ी के ढंग पर 'टैगोर' कहलाने लगा था। वैसे तो ये लोग बनर्जी वंश थे, किन्तु इनकी बड़ी भारी ज़मींदारी थी और रैयत इन्हें ठाकुर अर्थात् स्वामी कहकर पुकारती थी; अतः यही नाम इस वंश का प्रसिद्ध हो गया।

रवीन्द्रनाथ के पितामह द्वारकानाथ ठाकुर पर राजा राममोहनराय और उनके ब्रह्म समाज का बहुत प्रभाव पड़ा था। वे भारतीय समाज

में फैली हानिकारक कुरीतियों के वड़े विरोधी थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विलायत जाकर उस समय के समाज की विदेश-गमन संवन्धी पावन्दी को तोड़ा था। अंग्रेजों और मुसलमानों के साथ खान-पान में वे कुछ दोष न मानते थे। सामाजिक सुधारों के तथा पश्चिमी शिक्षा के वे प्रवल-समर्थक थे।

रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी वड़े सुधारवादी थे। वे ब्रह्म समाज के नेता थे। वे प्रार्थना, ध्यान, एकान्तवास, कोमल भाषण, उदारता और तपस्या के कारण 'महर्षि' कहलाए। उन्हें देखकर लोग श्रद्धा से सिर झुका दिया करते थे।

कलकत्ता के जोड़ासाँकू मोहल्ले में टैगोर परिवार का अत्यन्त विशाल भवन था। इसमें देवेन्द्रनाथ तथा उनके भाई अपने परिवारों सहित रहते थे। रवीन्द्रनाथ अपने माता-पिता की चौदहवीं सन्तान थे इसके अतिरिक्त भवन में उनके चचेरे भाइयों-वहनों की काफी संख्या थी और वालकों को संभालने तथा घर के काम-काज के लिए नौकरों की एक फौज-सी तैनात थी। रवीन्द्र के जन्म से ही उनकी माता शारदादेवी निरन्तर रुग्ण रहने लगी। नौकरों के हाथों ही रवीन्द्र का पालन-पोषण हुआ और वे माता के स्नेह से प्राय: वंचित ही रहे नौकर कई वार उनसे वड़ा कठोर वर्ताव करते थे और रवीन्द्र को अपनी दशा एक कैदी-सी प्रतीत होती थी। जव वे १२ वर्ष के हुए तो उनकी माता की मृत्यु हो गई। इससे रवीन्द्र एकान्तप्रिय हो गए। कभी कमरे की खिड़की के पास वैठकर वे शून्य आकाश को देखा करते, कभी तालाव के पास वैठे लहरें गिना करते, कभी भवन के आँगन में खड़ी पुरानी घोड़ागाड़ी के अन्दर वैठकर परीलोक की सैर किया करते। वे भावुक, कल्पनाशील और अन्तर्मुखी हो गए। कभी-कभी भवन के अन्दर की वगिया के एक कोने में ध्यान-मग्न वैठे वे खाना-पीना भी भूल जाया करते थे।

रवीन्द्र की शिक्षा कुछ समय घर पर ही हुई। फिर उन्हें एक अंग्रेज़ी स्कूल में भेजा गया। स्कूल के कठोर नियमों और पावन्दियों म उन्हें दम घुटता-सा प्रतीत होता था। इसलिए उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया। अव महर्षि देवेन्द्रनाथ ने घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रवन्ध किया।

प्रातः छः वजे एक पहलवान व्यायाम कराने आता। फिर क्रमशः

विज्ञान, संस्कृत और अंग्रेज़ी आदि पढ़ाने वाले अध्यापक आते । दिन-भर पढ़ाई का कार्यक्रम चलता रहता और रात के ९ बजे अन्तिम अध्यापक पढ़ाकर जाता । इस प्रकार के विविधता-रहित निरन्तर अध्ययन से रवीन्द्र का मन ऊब उठा । देवेन्द्रनाथ के बड़े भाई की लड़की को संगीत सिखलाने के लिए एक शिक्षक आता था । रवीन्द्र का मन संगीत सीखनेके लिए लालायित रहता था । साथ ही एकांत में बैठकर तुकबन्दी करने या नाटक लिखने की ओर उनकी रुचि हो गई थी । १२ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत हुआ । उसी वर्ष उन्होंने 'पृथ्वीराज पराजय' नामक पहला नाटक लिखा । रवीन्द्र के जीवन में यह वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । महर्षि देवेन्द्रनाथ प्रति वर्ष हिमालय की यात्रा पर जाते थे । इस वर्ष वे रवीन्द्र को भी साथ ले गए । मार्ग के सुरम्य स्थानों और हिमालय के प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर रवीन्द्रनाथ का मन आनन्द-विभोर हो गया । दूर-दूर तक फैले आकाशचुम्बी पर्वत-शृंग, हर-हर करती वेग से प्रवाहित होती सरिताएँ, कल-कल नाद करते झरने और खग-कुल का कलरव—इस उन्मुक्त वातावरण में रवीन्द्र का कल्पनाशील मन उड़ानें भरने लगा । इस प्राकृतिक सुषमा ने ही रवीन्द्र के मानस में कवित्व की प्रेरणा जगा दी । यहाँ उन्होंने स्वतन्त्र रूप से संस्कृत, अंग्रेज़ी और बँगला के काव्यों का भी अध्ययन किया । पिता के संसर्ग से रवीन्द्र में अध्यात्म-सम्बन्धी भावों का भी विकास हुआ । इसी हिमालय-यात्रा में उन्हें कवित्व तथा दार्शनिकता सम्बन्धी एक दिव्य आलोक की प्राप्ति हुई । प्रकृति की सुषमा के अवलोकन की एक नवीन दृष्टि उन्हें पिता से प्राप्त हुई । अब तक उनका मन उदासी से भरा रहता था, अब उन्हें सारा जड़-चेतन जगत् प्रेममय प्रतीत होने लगा । विश्व उन्हें सौन्दर्य और प्रकाश से परिपूर्ण दिखाई देने लगा । मानव के प्रति सहानुभूति का उनके हृदय में उदय हुआ ।

हिमालय-यात्रा से लौटने के बाद पिता ने उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया । सन् १८७७ में वे ब्राइटन के एक स्कूल में प्रविष्ट हुए । वहाँ के प्रिंसिपल तथा अध्यापक इन्हें एक मेधावी बालक मानते थे । वहाँ रवीन्द्रनाथ भारतीय वेश-भूषा में ही रहते थे । आरम्भ में इनके सहपाठी इनका उपहास करते थे । किन्तु शीघ्र ही उन्हें रवीन्द्र की प्रतिभा का परिचय प्राप्त हुआ और वे

इनका सम्मान करने लगे। साहित्य की ओर, विशेषतः कविता की ओर इनकी अधिक रुचि रही और थोड़े समय में ही इन्होंने अंग्रेज़ी के शेक्सपियर, मिल्टन और बायरन तथा जर्मन के गेटे और दांते आदि कवियों की रचनाएँ पढ़ डालीं। इन्होंने इन कवियों पर लेख भी लिखे। एक वर्ष बाद ही ये भारत लौट आए।

इंग्लैंड से लौटकर इन्हें अपने भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के साथ कुछ दिन चन्द्रनगर में रहने का सुअवसर मिला। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता ने उनके मन को ऐसा तरंगित किया कि इन्होंने कुछ गीतों की रचना कर डाली। बाद में ये गीत 'संध्या संगीत' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए और इस रचना ने उनका नाम सारे बंगाल में प्रसिद्ध कर दिया।

सन् १८८१ में महर्षि देवेन्द्रनाथ ने इन्हें बैरिस्टर बनाने के लिए दुबारा इंग्लैंड भेजने का निश्चय किया। किंतु मद्रास तक जाकर ही ये लौट आए और घर पर ही रहकर काव्य-रचना करने लगे। इनके बड़े भाई 'भारती' नाम की एक पत्रिका निकालते थे। उसी में रवि बाबू का प्रथम उपन्यास 'बौ ठाकुरानीर हाट' क्रमशः प्रकाशित होने लगा। इसके अनन्तर इनका दूसरा गीत-संग्रह 'प्रभात-संगीत' प्रकाशित हुआ।

सन् १८८४ में रवि बाबू की 'छवि ओ गान' कृति का प्रकाशन हुआ। इसी समय श्री ए० ओ० ह्यूम ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। रवि बाबू का ध्यान देश की दशा की ओर आकर्षित हुआ और इन्होंने देश-भक्ति, शिक्षा, समाज-सुधार और मानव-समता आदि विषयों पर कई लेख लिखे।

९ दिसम्बर, १८८३ को, बंगला के प्रसिद्ध लेखक रमेशचन्द्र दत्त की पुत्री मृणालिनी देवी से रवीन्द्रनाथ परिणय-सूत्र में आबद्ध हो गए। पतिपरायणा पत्नी के प्रणय को प्राप्त करके उनके जीवन में एक नवीनता आ गई। फिर पिता की आज्ञा से वे अपनी ज़मींदारी की देखभाल के लिए सियालदा चले गए। वहाँ ज़मींदारी के काम को उन्होंने बड़ी निपुणता से सँभाला। साथ ही वहाँ के शान्त और एकान्त वातावरण में उन्हें साहित्य-रचना के लिए पर्याप्त अवकाश प्राप्त हुआ। गंगा का कछार, लम्बे-चौड़े मैदान, शस्य-श्यामल खेत, सुनहले धान, सुन्दर नहरें, सघन वृक्ष और [illegible] के सम्पर्क ने

कवि-आत्मा के लिए सर्वथा उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया। इस काल में कवि का प्रकृति के साथ एकान्त परिचय और तादात्म्य स्थापित हुआ। इस काल में रवि बाबू ने अनेक श्रेष्ठ कविताओं, उत्कृष्ट कहानियों, छोटे-बड़े नाटकों और मौलिक निबन्धों की रचना की। इस समय की उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ ये हैं—मानसी, बलिदान, चित्रांगदा, सोनारतरी, चित्रा, उर्वशी इत्यादि।

इसके बाद बंगाल में रवि बाबू को बँगला का शैले कहा जानें लगा।

इससे पूर्व सन् १८७२ में इन्होंने दो नाटिकाओं की रचना की थी—'मायार खेला' और 'वाल्मीकि प्रतिभा'। इसके अनन्तर इन्होंने 'मानसी' की रचना की थी।

सन् १८८७ में रवि बाबू ब्रह्म समाज के मंत्री बने और इस उत्तरदायित्व को उन्होंने १९१७ तक निभाया। इस संस्था के द्वारा उन्होंने देश-प्रेम का प्रचार, किया, मिथ्या आडंबरों और शिक्षितों की मानसिक दासता का विरोध किया। इनके देश-प्रेम में संकीर्णता की गंध न थी, उदारता और व्यापकता के कारण वह विश्वमानवता की भावना तक ले जाने वाला था। जहाँ ईश्वर से देश की स्वाधीनता की याचना करते हुए उन्होने कहा था—"हे मंगलमय ! इस अभागे देश से तू समस्त तुच्छ भय दूर कर दे। इनके मन से लोकभय, राजभय, मृत्युभय दूर कर दे।" वहाँ उन्होंने एक अन्य गीत में कहा—

"चित्त जेथा भय शून्य, उच्च जेथा शिर
ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर
आपुन प्रांगण तले दिवस शर्वरी
वसुधारे राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि···"

इसका अर्थ यह है कि चित्त जहाँ भय-शून्य हो, मस्तक जहाँ सदैव ऊँचा रहता हो, ज्ञान जहाँ बन्धन मुक्त हो, जहाँ घर की दीवार वसुधा को क्षुद्र खण्ड-खण्ड में विभक्त न किये हुए हो······हे पिता ! उसी स्वर्ग में तुम्हारे हाथ के निर्दय आघात से मेरा देश जागे।

एक अन्य गीत में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि—"···अरे आँखें खोलकर देख, तेरा देवता वहाँ है जहाँ कृषक मिट्टी खोद रहा है और जहाँ मजदूर पत्थर तोड़ते हुए श्रम कर रहा है।

इस समय रवीन्द्र पूर्ण यौवन की अवस्था में पहुँच चुके थे। उनका ऊँचा कद, ओजस्वी ललाट, विशाल आँखें, उन्नत नासिका, गौर वर्ण और घुँघराले वाल—इस रूपरेखा ने एक आकर्षक व्यक्तित्व का निर्माण कर दिया था। वंगला के अनेक तरुण उनकी देखा-देखी 'रवीन्द्र स्टाइल' के केश धारण करने लगे थे।

रवीन्द्रनाथ की अवस्था इस समय तीस वर्ष की हो चुकी थी। उन्होंने पिता से योरुप-यात्रा की आज्ञा ले ली। उन्होंने इटली, फ्रांस, इंग्लैंड आदि की यात्रा की और वहाँ के साहित्यकारों से भेंट करने के अतिरिक्त उन्होंने योरुप के आचार-व्यवहार, आशा-आकांक्षा और संस्कृति-सभ्यता का गंभीर परिचय प्राप्त किया। इससे उन्हें पाश्चात्य सभ्यता की भारतीय संस्कृति के साथ तुलना करके दोनों के गुण-दोषों का सूक्ष्म अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वदेश लौटकर उन्होंने अपनी विदेश यात्रा के मार्मिक संस्मरण लिखे। साथ ही उन्होंने शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, समाज आदि सम्वन्धी अनेक लेख भी लिखे। विदेश में जहाँ कहीं भी वे गए, उन्होंने अपनी भारतीय वेशभूषा को न छोड़ा। वे अन्धानुकरण के वड़े विरोधी थे और 'नकल का निकम्मापन' लेख में उन्होंने भारतीयों की अनुकरण प्रवृत्ति को अनुचित वताया। उन्होंने उक्त लेख में लिखा कि वस्त्रों की वनावट-सजावट सम्वन्धी आयोजन और चेष्टा में की जाने वाली नकल से बढ़कर मूर्खतापूर्ण कार्य दूसरा नहीं प्रतीत होता। रवि वावू जहाँ पुरानी कुरीतियों तथा आडंवरों के विरोधी थे, वहाँ नवीन कुरीतियों और आडम्वरों का भी खुलकर विरोध करते थे।

अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को सजीव रूप देने के लिए वे वोलपुर स्थित शान्ति-निकेतन चले आए। यहां उन्होंने सन् १९०१ में 'वोलपुर आश्रम' की स्थापना की। इस आश्रम में जो विद्यार्थी पढ़ते थे, उनसे शिक्षा-शुल्क तो लिया ही नहीं जाता था, उनके खान-पान और आवास आदि का भी आश्रम की ओर से ही प्रवन्ध था। रवीन्द्रनाथ को पारिवारिक आय से जो भाग प्राप्त होता था, उसे वे इस आश्रम के संचालन पर व्यय कर डालते थे। उनकी धर्मपत्नी मृणालिनी देवी सर्वथा पति की अनुगामिनी थी। उन्होंने धन का अभाव होने पर आश्रम के लिए अपने सव आभूषण दे दिये। रवि

ने अपना पुरी स्थित मकान भी बेच डाला। कलकत्ता में पुस्तकों का जो विशाल भंडार था, उसे भी बेच दिया। अपने स्वप्न को साकार करने के लिए कवि को अपनी अनेक रचनाओं के अधिकार प्रकाशकों के हाथ बेचने पड़े। मृणालिनी देवी न केवल विद्यार्थियों की देखभाल करती थीं; बल्कि दोनों समय अपने हाथों से खाना बनाकर उन्हें खिलाती थीं। किन्तु इतने कठोर परिश्रम को उनका शरीर सहन न कर सका। विद्यालय की स्थापना के एक वर्ष बाद ही उनका देहावसान हो गया।

अब विद्यालय के सिवाय परिवार का उत्तरदायित्व भी कवीन्द्र पर आ पड़ा। इस समय उनके सबसे छोटे पुत्र-पुत्री ८-१० वर्ष के थे। कुछ दिनों बाद छोटी पुत्री रेणुका बीमार हुई और चल बसी। पत्नी के शोक से आकुल उनके हृदय को पुत्री के निधन ने विचलित कर दिया। इस समय उनका हाथ भी बहुत तंग हो गया था। दो वर्ष बाद उनकी दूसरी पुत्री की भी मृत्यु हो गई। और सन् १९०५ में महर्षि देवेन्द्रनाथ की मृत्यु हो गई। १९०६ में रवि बाबू के बड़े पुत्र का भी देहान्त हो गया। इस समय उनके हृदय पर वेदना ने पूर्ण अधिकार कर लिया। वियोग, विषाद और नियति की विडम्बना के इस काल में कवि की ये कृतियाँ प्रकाश में आयीं—स्मरण, नौका डूबी, खेवैया। इन रचनाओं में संवेदनशील हृदय के आन्तरिक उद्‌गार प्रकट हुए हैं।

धीरे-धीरे उन्होंने मन को संभाला और पिता के दिये हुए आध्यात्मिक संस्कारों के बल पर धैर्य धारण करके वे पुनः विद्यालय की देखभाल और साहित्य-रचना में लीन हो गए। इस बीच उनके बंगला गीतों का संग्रह 'गीतांजली' के नाम से प्रकाशित हुआ। अनुवाद उन्होंने स्वयं किया था। विश्व के कोने-कोने में 'गीतांजली' की धूम मच गई।

रवि बाबू विदेश यात्रा पर चले गए। इंग्लैंड तथा योरुप के कुछ अन्य देशों का भ्रमण करने के बाद वे अमेरिका गए। सर्वत्र उनका बड़ा स्वागत हुआ। यात्रा के दौरान कवि को यह देखकर आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता हुई कि कई लोगों के हाथों में उनकी 'गीतांजली' होती थी और उसे वे बड़े प्रेम से पढ़ते थे।

सन् १९१२ में वे अमेरिका से भारत आए। कुछ दिनों बाद ही विश्व ने सुना कि रवीन्द्रनाथ के सम्मान में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार 'गीतांजली' को विश्व-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना मानकर दिया गया था। इससे रवीन्द्रनाथ का नाम संसार के कोने-कोने में फैल गया। यही नहीं, इससे भारत देश की सभ्यता, संस्कृति और कला की उच्चता की छाप संसार के लोगों के हृदयों पर पड़ी। इस पुरस्कार को पाकर रवीन्द्र का ही सम्मान नहीं हुआ, बल्कि भारत का भी गौरव बढ़ा। कुछ समय बाद ब्रिटिश सरकार ने कवीन्द्र को 'सर' की उपाधि से विभूषित किया। 'गीतांजली' में उपनिषदों जैसा तत्वचिन्तन और वैष्णव कवियों जैसा आत्मनिवेदन प्राप्त होता है।

इस समय तक नोबेल पुरस्कार से प्राप्त राशि के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ को पुस्तकों से पर्याप्त आय होने लगी थी। किन्तु उन्होंने अपनी समस्त आय विद्यालय के विकास में व्यय कर दी। वह छोटा सा आश्रम अब 'विश्वभारती' का रूप धारण कर चुका था। इसका आदर्श वाक्य (Motto) यह रखा गया—"यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्"; अर्थात् जहाँ संसार भर के मानवों का एक आश्रय है।" विश्वभारती का प्रधान लक्ष्य रखा गया-विश्व संस्कृति का सामंजस्य-पूर्ण अध्यापन। यहाँ अनेक विषयों के देशी तथा विदेशी अध्यापक आकर एकत्र हो गए। न केवल भारत के सभी भागों से बल्कि विदेशों के भी बालक-बालिकाएँ यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। संसार में यह संस्था एक नई शिक्षा-पद्धति लेकर चली। उन्मुक्त वातावरण में, पेड़ों की छाया में या शीतकाल की पीली धूप में बैठे विद्यार्थी स्वतन्त्रता से अध्ययन करते। न झिड़की, न मारपीट, न क्रोध, न गर्जन! साहित्य, संगीत और चित्रकला की यहां त्रिवेणी बहने लगी! रवि बाबू स्वयं चित्रकला और संगीत में गहरी रुचि लेते थे। ऐसा मधुर और स्नेहपूर्ण वहां का वातावरण था कि एक दिन विद्यालय पर निबन्ध पढ़ते हुए एक छोटे-से विद्यार्थी ने कहा—"गुरुदेव आमादेर मां"।

सन् १९१४ में उन्होंने शान्तिनिकेतन से कुछ दूरी पर ग्राम सुधार के लिए एक केन्द्र खोला। इसका नाम उन्होंने श्रीनिकेतन रखा। गांधी जी ने जब रवि बाबू से भेंट की तो उन्होंने इन्हें 'गुरुदेव'

कहा; रवि वाबू ने गाँधी जी को 'महात्मा' कहा। दोनों महान् आत्माओं की यह मित्रता आजीवन बनी रही।

रवीन्द्रनाथ राजनीति से दूर नहीं रह सकते थे। उन्होंने बंग-भंग का घोर विरोध किया था। जलियाँवाला बाग का हत्याकांड होने पर कवीन्द्र ने 'सर' की उपाधि ब्रिटिश सरकार को लौटा दी थी।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली, चिन्तन और विचारधारा का भारत की सभी भाषाओं के आधुनिक साहित्य पर भारी प्रभाव पड़ा है। सौंदर्य, उदारता, स्नेह, स्वतन्त्रता, समता और विश्व-मानवता के उपासक इस आधुनिक ऋषि का देहावसान ७ अगस्त सन् १९४१ को हुआ।

विज्ञान पथ

- जगदीशचन्द्र बोस
- क्यूरी दम्पति
- चन्द्रशेखर वेंकटरमन
- यूरी गागरिन

आज विज्ञान का युग है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज विज्ञान-निर्मित वस्तुओं एवं उपकरणों का हाथ है। आज के जीवन की कल्पना, विज्ञान से विच्छिन्न करके की ही नहीं जा सकती। सत्य है कि आधुनिक विज्ञान का उद्भव यूरोप में हुआ। किन्तु विश्व का कोई भी देश अब विज्ञान में पीछे नहीं रहना चाहता। विज्ञान ने मानव जीवन को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। बिना आत्म-त्याग, कष्ट-सहन और बलिदान किये कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। विज्ञान के लिए भी अनेक महान् व्यक्तियों को इन मार्गों से होकर गुजरना पड़ा है। विज्ञान देशों की दीवारों को नहीं मानता। फिर भी आज विज्ञान की उन्नति ही किसी देश की उन्नति की कसौटी हो गई है। कहा जाता है कि सत्य कल्पना से बढ़कर विचित्र होता है। यह बात वैज्ञानिकों और उनके आविष्कारों पर पूरी तरह घटित होती है। इनकी जीवनियाँ हमारे लिए अत्यन्त प्रेरणादायिनी हैं, क्योंकि इनका तप, तेज, अध्यवसाय और कृतित्व मानव के लिए आदर्श तथा अनुकरणीय है। विज्ञान की विविध शाखाएँ एवं विभिन्न कार्यक्षेत्र हैं। इनमें से वनस्पति विज्ञान अवश्य एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें भारत के ही एक वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बोस ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये। वस्तुतः आधुनिक विज्ञान की दिशा में ख्याति लाभ करने वाले ये प्रथम भारतीय थे। इसी प्रकार रेडियम की खोज द्वारा क्यूरी दम्पति ने फ्रांस का मुख उज्ज्वल किया। श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन का जीवन विज्ञान के लिए ही समर्पित है। रूस के यूरी गागरिन विश्व के प्रथम अन्तरिक्ष यात्री हैं। विज्ञान के क्षेत्र में इन चारों की जीवनियाँ हमारे जीवन में क्रान्ति लाकर उनमें विज्ञान के प्रति सच्ची लगन लगाने में बहुत सहायक हो सकती हैं।

: १३ :

जगदीशचन्द्र बोस

भारत का नाम आध्यात्मिकता के कारण सदा से प्रसिद्ध रहा है। जगदीशचन्द्र बोस ने एक भिन्न क्षेत्र में समस्त विश्व का ध्यान, बरबस भारत की ओर आकर्षित किया। वह क्षेत्र है—विज्ञान। भारत के अर्वाचीन महामानवों में बोस महाशय का अपना विशेष स्थान है। उन्होंने आजीवन, निरन्तर विज्ञान की सेवा करके भारत का नाम उज्ज्वल किया था। बोस प्रथम भारतीय थे, जिनके वैज्ञानिक अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप अन्य भारतीयों को भी विज्ञान का अध्ययन करके अनुसन्धान और आविष्कार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। बोस महाशय प्राचीन ऋषियों के समान सूक्ष्मदर्शी थे। उन्होंने अपने अन्तःकरण में प्रकृति के जिन तत्वों का साक्षात्कार किया; उनको विज्ञान की कसौटी पर सिद्ध करके दिखलाया। उनमें सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म कोटि की वैज्ञानिक यथार्थता विद्यमान थी।

ढाका के समीप फरीदपुर ज़िले के डिप्टी कलेक्टर भगवानचन्द्र बोस के यहाँ सन् १८५८ में एक पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम जगदीशचन्द्र रखा गया। भगवानचन्द्र बोस बड़े विचारशील तथा कर्त्तव्य-परायण थे। वे बड़े निर्भय, साहसी और कर्मनिष्ठ थे। उन्होंने सरकार की आज्ञा पाकर अपने इलाके के डाकुओं का दमन करके बड़ा यश और सम्मान पाया था।

उन दिनों बड़े अफसरों और धनियों के पुत्र अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ते थे। किन्तु भगवानचन्द्र के हृदय में अपनी संस्कृति, सभ्यता और भाषा के प्रति गहरी श्रद्धा की भावना थी; अतः उन्होंने जगदीशचन्द्र को पांच वर्ष की वय में, एक पुराने ढंग की पाठशाला

में पढ़ने के लिए भेजा। उन दिनों पाठशालाओं में केवल निर्धन वर्ग या किसानों के बालक ही पढ़ते थे। किन्तु जगदीशचन्द्र को पाठशाला के खुले वातावरण में प्रकृति-प्रेम की शिक्षा प्राप्त हुई। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"देहाती पाठशाला में मैंने राष्ट्रीय सभ्यता और आदर्शों का पाठ पढ़ा। जो कृषि करते हैं, पृथ्वी को हरा-भरा करते हैं, उनसे मैंने सच्ची मनुष्यता और प्रकृति के प्रति प्रेम की शिक्षा प्राप्त की।" इस शिक्षा से जगदीशचन्द्र के मन में भारतीयता के प्रति प्रेम का संचार हुआ। वे प्रतिदिन अपने बहुत से संगियों को घर में लाते रहते थे और उनकी माता बड़े स्नेह से उन्हें खिला-पिलाकर महान् सन्तोष का अनुभव करती थीं। माता से जगदीशचन्द्र को मनुष्य-मात्र से प्रेम करने की शिक्षा मिली।

बालक जगदीशचन्द्र को पशु-पक्षियों से खेलने का बड़ा चाव था। पालतू जानवरों के प्रति उसके हृदय में बड़ा स्नेह था। इसके सिवाय पेड़-पौधों और बेलों में उनकी बड़ी रुचि थी। अपने कामकाज से फुर्सत पाकर उसके पिता कुछ समय उसे बहुत-सी बातें बताया करते थे। जगदीशचन्द्र प्रश्नों की झड़ी लगा देते और उनके पिता बड़े धैर्य से उनकी जिज्ञासा का शमन किया करते थे। इस प्रकार जगदीशचन्द्र में बाल्यकाल से ही जानने की गहरी प्यास थी। भारतीय ग्रंथों में जगदीशचन्द्र को महाभारत बहुत पसन्द थी। इसमें भी कर्ण के चरित्र पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी।

प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त जगदीशचन्द्र को कलकत्ता के सेंट ज़ेवियर स्कूल में प्रविष्ट कराया गया। उन्होंने वहाँ से मैट्रिक पास की। बी०ए० में इनकी रुचि भौतिकी तथा वनस्पति-शास्त्र में थी। कॉलेज में विज्ञान के अध्यापक फादर लेफाँ ने इनकी प्रतिभा को परखकर विज्ञान तथा वनस्पति-शास्त्र में इनकी रुचि को विकसित किया।

बी०ए० पास करने के बाद जगदीशचन्द्र के मन में विलायत जाकर ऊँची शिक्षा पाने की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई; किन्तु उस समय तक श्री भगवानचन्द्र बोस रिटायर हो चुके थे और दस्तकारी की योजनाओं में बहुत-सा रुपया गँवा चुके थे। अतः परिवार की आर्थिक स्थिति के कारण जगदीशचन्द्र को अपना विचार छोड़ देना पड़ा। लेकिन उस दिन से वे खिन्न रहने लगे। एक दिन उनकी

माता ने कहा—"मैं देखती हूँ तुम्हारे हृदय में विलायत जाकर सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त करने की तीव्र इच्छा है। मैं तुम्हारे मार्ग में विघ्न नहीं बनना चाहती। तुम्हारे पिता के पास तुम्हारी शिक्षा के लिए पैसा नहीं है; परन्तु मेरे पास आभूषण हैं और कुछ धन भी है। मैं तुमको सब कुछ दे दूँगी। तुम जा सकते हो। तुम अवश्य जाओ।"

विलायत जाकर जगदीशचन्द्र पहले तो लंदन में मेडिकल कॉलेज में प्रविष्ट हुए किन्तु वहाँ के जलवायु में वे अस्वस्थ हो गए। तब वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रकृति विज्ञान का अध्ययन करने लगे। सन् १८८४ में इन्होंने कैम्ब्रिज से बी०ए० तथा लंदन से बी०एस-सी० की परीक्षाएँ एक साथ पास कीं। इंग्लैंड-निवास के समय में जगदीशचन्द्र को न केवल विज्ञान की शिक्षा पाने का अवसर मिला; बल्कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के संपर्क में आने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। वैज्ञानिकों की गहरी लगन, उनकी ज्ञान-पिपासा, परीक्षणों और प्रयोगों में उनकी दत्तचित्तता आदि का जगदीशचन्द्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन वैज्ञानिकों का अनुकरण करके उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में कोई विशेष कार्य कर दिखलाने का संकल्प किया।

एक विज्ञान-विशारद ने जगदीशचन्द्र को, भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड रिपन के नाम एक पत्र दिया था। उसमें जगदीशचन्द्र की प्रतिभा की सराहना की गई थी। उस पत्र से प्रभावित होकर वायसराय ने उन्हें कलकत्ता के प्रेज़ीडेन्सी कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त करवा दिया। उस समय तक शिक्षा-विभाग के अंग्रेज़ अधिकारी किसी भारतीय को विज्ञान के शिक्षक पद पर नियुक्त नहीं करते थे। वे उन्हें भाषा, साहित्य आदि में तो योग्य समझते थे किन्तु विज्ञान विभाग के ऊँचे पदों पर केवल यूरोपियनों को ही नियुक्त करते थे; अतः आरम्भ में जगदीशचन्द्र की नियुक्ति का बड़ा विरोध हुआ; किन्तु शीघ्र ही इन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय देकर समस्त विरोध को शान्त कर दिया। लेकिन बोस महोदय की यह नियुक्ति अस्थायी रखी गई थी। एक तो भारतीय, दूसरे अस्थायी; अतः महीने के बाद जब वेतन आया तो वह यूरोपियन प्राध्यापकों की अपेक्षा एक तिहाई था। जगदीशचन्द्र बोस ने इसमें अपना अपमान समझा और वेतन लेने से इंकार कर दिया।

तीन वर्ष तक बोस महाशय नियमपूर्वक अध्यापन-कार्य करते रहे, किन्तु उन्होंने वेतन न लिया। अन्त में शिक्षा-विभाग को उनकी योग्यता तथा दृढ़ता के आगे झुकना पड़ा। उन्हें न केवल यूरोपियन प्राध्यापकों के बराबर वेतन मिलने लगा; बल्कि पिछला तीन वर्ष का भी पूरा वेतन प्राप्त हुआ।

इन तीन वर्षों में श्री बोस को अपार कष्ट सहन करना पड़ा। सन् १८८६ में इनका विवाह कर दिया गया। उधर इन्होंने वेतन न लेने का प्रण ठाना हुआ था; अतः उनकी कठिनाइयों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। उनके पिता पर बहुत ऋण हो गया था। उसे चुकाने के लिए इन्होंने पैतृक संपति बेच दी। फिर भी ऋण आधा ही चुकाया जा सका। इसके बाद इनकी माता ने अपने बचे-खुचे गहने बेचकर ऋण चुकाया। जब तीन वर्ष बाद जगदीशचन्द्र को पिछला पूरा वेतन मिला, तब उनके परिवार ने सारा ऋण चुकाकर चैन की साँस ली।

बोस महाशय बड़ी तन्मयता से अपने छात्रों को पढ़ाया करते थे। इनकी कक्षा में पूर्ण शान्त वातावरण होता था। लेकिन उस समय कॉलेज की प्रयोगशाला बहुत साधारण थी। बोस महाशय इससे सन्तुष्ट न थे। किन्तु कॉलेज के अधिकारी हिन्दुस्तानी छात्रों के लिए साधन-संपन्न प्रयोगशाला की आवश्यकता अनुभव न करते थे। अन्ततः बोस महाशय ने अपने व्यय से प्रयोगशाला को विकसित करना आरम्भ किया। उन्होंने देशी कारीगरों की सहायता तथा अपनी सूझबूझ से बहुत से यन्त्र कम खर्च पर तैयार करवाये।

उन दिनों वे निरन्तर खोज में लगे रहते थे और उनकी खोजें भौतिकी, विशेषतः विद्युत शक्ति से सम्बन्धित थीं। श्री बोस ने जिस अध्यवसाय से प्रयोगशाला का विकास किया, उसकी कीर्ति इंग्लैंड तक पहुँची और लंदन की रॉयल सोसायटी ने प्रयोगशाला को आर्थिक सहायता प्रदान की। अब भारत की सरकार का भी ध्यान इधर आकर्षित हुआ और उसने नियमित सहायता देना स्वीकार कर लिया।

उस समय संसार के कई देशों के वैज्ञानिक बेतार के संदेश प्रेषण के सम्बन्ध में वैज्ञानिक खोज करने में जुटे हुए थे। जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हर्ट्ज़ के विद्युत् चुंबकीय तरंगों के विकिरण के अध्ययन

की ओर वोस महाशय विशेष रूप से आकृष्ट थे। इटली में मारकोनी, अमेरिका में निकोला टेसला और इंग्लैंड में सर आलिवर लॉज इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसंधान कर रहे थे।

श्री बोस की इस सम्बन्ध में 'विद्युत् तरंगों के गुण' शीर्षक से एक लेखमाला वंगाल की एशियाटिक सोसायटी के प्रमुख पत्र में प्रकाशित होने लगी। इस लेखमाला से वैज्ञानिक क्षेत्रों में वहुत हलचल मच गई। विश्व के वैज्ञानिक एक भारतीय के विज्ञान-सम्वन्धी ज्ञान पर आश्चर्य-चकित हुए। लंदन की रायल सोसायटी ने इनकी वड़ी सराहना की।

सन् १८९५ में, कलकत्ता के टाऊन हाल में वहुत से विज्ञान-प्रेमी एकत्रित थे। जगदीशचन्द्र वोस अपनी खोजों का प्रदर्शन कर रहे थे। उन्होंने अपने बनाये यन्त्रों के द्वारा विद्युत् की लहरें उत्पन्न करके, दूसरे कमरे में लगी बिजली की घंटी को, जिसके साथ कोई तार नहीं जुड़ी हुई थी, वजा दिया। इस दृश्य को देखकर लोग दंग रह गए। इस प्रकार श्री वोस ने मारकोनी से वहुत पहले ही यह सिद्ध कर दिया कि तार के विना ही एक स्थान से दूसरे स्थान को सदेश भेजा जा सकता है। इसके लिए श्री वोस ने जिस यंत्र का आविष्कार किया था। उसका नाम 'डिटेक्टर' रखा था। सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता केलविन ने वोस महाशय के इस आविष्कार को देखकर कहा—"वैज्ञानिक अनुसंधान के इस दुर्गम क्षेत्र में इतनी वड़ी सफलता देखकर मेरा हृदय सचमुच आश्चर्य और प्रशंसा से भर उठा।" प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजी युद्ध-पोतों में वेतार के तार का उपयोग पहले-पहल एडमिरल जेक्सन ने किया था। एडमिरल जेक्सन ने स्वयं स्वीकार किया था—"यदि डॉक्टर वोस के डिटेक्टर की सहायता मुझे न मिलती तो मैं इस कार्य में सफल न होता।"

विद्युत् सम्वन्धी अनुसंधान करते हुए श्री वोस ने यह लक्ष्य किया कि विद्युत् धारा के प्रति प्रत्युत्तर केवल जीवित प्राणियों में ही नहीं मिलता, अपितु निर्जीव (जड़) पदार्थों में भी मिलता है। यह देखकर उन्होंने जड़-चेतन की मूलभूत एकता पर विचार करना आरम्भ किया। उन्होंने प्रयोग करने पर देखा कि जड़ पदार्थ में भी, वाहर से उत्तेजना दिये जाने पर, प्रत्युत्तर मिलता है; अर्थात् प्रतिक्रिया (Reaction) होती है।

एक विशेष सीमा से अधिक उत्तेजना पाकर वह थक जाता है तथा कुछ समय के विश्राम के बाद वह पुनः पूर्ववत् हो जाता है। कतिपय विशेष उत्तेजक द्रव्यों द्वारा प्रत्युत्तरीय यह शक्ति बहुत बढ़ जाती है। इसके विपरीत कुछ विषैले द्रव्य का प्रभाव पहुँचाने पर प्रत्युत्तर एकदम बन्द हो जाता है। इससे बोस महाशय इस परिणाम पर पहुँचे कि जड़ तथा चेतन में होने वाली प्रतिक्रिया में विपरीतता कम तथा सादृश्य अधिक है और जड़ परमाणुओं में छिपी हुई जीवन-शक्ति ही विकसित होकर चेतन रूप में प्रस्फुटित हुई होगी।

आचार्य बोस ने देखा कि एक ओर मिट्टी, पत्थर, लोहा, आदि जड़ पदार्थ हैं और दूसरी ओर जलचर, थलचर, नभचर आदि चेतन प्राणी हैं। इन दोनों वर्गों के बीच में एक तीसरा वर्ग है—उद्भिज्ज वर्ग, जिसे साधारणतः 'वनस्पति' नाम से पुकारा जाता है। वनस्पति वर्ग के पदार्थ उगते, हिलते-डुलते, बढ़ते, फलते-फूलते और अपने जैसे अन्यों का उत्पादन करते हैं। अतः वे मिट्टी, पत्थर, लोहा आदि जड़ पदार्थों से भिन्न हैं, अर्थात् वे जड़ नहीं हैं। साथ ही अन्य चेतन वर्गों की भाँति वे चलते-फिरते, उछलते-कूदते या उड़ते नहीं हैं, उनके अंग-प्रत्यंग अन्य जीवों की भाँति स्पन्दनशील नहीं हैं, किन्तु इर्द-गिर्द की परिकृति का जो प्रभाव जीवों पर पड़ता है, वही वनस्पतियों पर भी पड़ता है। जीव बहुत तेज़ धूप से जिस प्रकार घबरा जाते हैं, उसी प्रकार वनस्पति-वर्ग भी मुरझा जाता है। किसी जीव के शरीर में यदि चाकू घुसेड़ा जाए, तो जिस प्रकार वह पीड़ा से छटपटाने लगता है, उसी प्रकार किसी पेड़-पौधे में चाकू घुसेड़ा जाए तो वह भी छट-पटाने लगता है। यह छटपटाहट उसके भीतरी भाग में होती है, जो हमें दिखाई नहीं पड़ती।

वनस्पतियों के भीतरी भागों में क्या-क्या क्रियाएँ होती हैं, इन्हें जानने के लिए बोस महाशय ने अनेक परीक्षण तथा प्रयोग किये। एक वृक्ष को उन्होंने लगातार एक-सी शक्ति के कुछ दहलाने वाले धक्के पहुँचाये। इससे पहले ही उस वृक्ष में इस प्रकार के यन्त्र लगा दिये थे, जो वृक्ष में होने वाली उत्तेजना को अंकित कर सकें। इस परीक्षण से यह देखा गया कि जब वृक्ष को किसी उत्तेजक द्रव्य का इंजेक्शन देकर धक्का पहुँचाया जाता है, तो उसका प्रत्युत्तर बहुत

स्पष्ट होता है और जब शिथिल अवस्था में धक्का पहुँचाया जाता है, तो प्रत्युत्तर इतना स्पष्ट नहीं होता।

अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा किसी सूक्ष्म वस्तु को बड़ा बनाकर दिखाया जाता है। सबसे अधिक शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र किसी वस्तु को उसके वास्तविक आकार की अपेक्षा, अधिक से अधिक ३००० गुना अधिक बढ़ाकर दिखलाता है। साधारण अणुवीक्षण से वृक्षों के स्पन्दन को देखने में असमर्थ रहकर बोस महाशय को एक नवीन यन्त्र की ईजाद करनी पड़ी। इस यन्त्र का नाम है—'मैग्नेटिक क्रेस्कोग्राफ'।

इस यन्त्र के द्वारा किसी भी गति को १ करोड़ गुना अधिक बढ़ाकर दिखलाया जा सकता है। बोस महाशय ने जब अपने इस यंत्र को वैज्ञानिकों के सम्मुख रखा, तो पहले-पहल उन्हें इस यंत्र की शक्ति पर विश्वास नहीं हुआ। इस यंत्र की जाँच-परख करने के लिए लंदन की रॉयल सोसाइटी ने एक समिति बैठायी। इस समिति के सदस्य थे—लार्ड रेले, सर विलियम बैग, प्रोफेसर वेलिस, प्रोफेसर डोनन आदि बहुत-से प्रमुख वैज्ञानिक। समिति ने खूब जाँच-परख करने के उपरांत घोषणा की—"इस यन्त्र द्वारा वृक्षों के अवयवों की वृद्धि एक करोड़ गुना बढ़ाकर दिखाई जाती है। उत्तेजक द्रव्य देने पर, यह यंत्र वृक्षों में होने वाली गति को, एकदम ठीक-ठीक प्रदर्शित करता है।"

डॉक्टर बोस सूक्ष्म-बोधक यन्त्रों के सबसे बड़े विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में एक यन्त्र बनाया, जो एक सैकिण्ड के हज़ारवें भाग (काल परिमाण) को अपने-आप अंकित करने में समर्थ है। वनस्पतियों में दौड़ने वाली उत्तेजना-धारा की गति को नापने के लिए उन्होंने इस यन्त्र का निर्माण किया था। इसके द्वारा उन्हें स्पष्ट पता चल गया कि वनस्पतियों में भी अनुभूति की क्रिया जीवों के समान ही होती है।

पेड़ों में रस चढ़ता है। इसी रस के द्वारा पेड़ की चोटी तक उसके शरीर का पालन-पोषण होता है। यह रस किस गति से चढ़ता है, इसे नापने के लिए बोस महाशय ने एक यन्त्र का निर्माण किया। इसका नाम उन्होंने 'फाइटोग्राफ' रखा।

बोस महाशय ने और भी अनेक यन्त्र बनाये और विशेषता यह थी कि इन सबका निर्माण उन्होंने भारतीय पदार्थों से और अपनी ही प्रयोगशाला में किया था।

वृक्षों में जीवों के समान ही जीवन है, यह कहने पर प्रश्न होता है कि इनके अंग कहाँ हैं ? इनके मुँह, आँख, कान और हाथ-पैर किधर हैं ? बोस महाशय ने बताया कि यद्यपि वनस्पतियों के अंगों का रूप जीवों के अंगों से भिन्न है, तथापि उनमें भी वे अंग विद्यमान अवश्य हैं। सजीवों में सजीवता के पाँच लक्षण होते हैं—उत्तेज्य (उत्तेजना देने पर संकुचन या प्रसारण), समीकरण (पाचन या आत्मसात्करण), वर्धन, उत्पादन, मलोत्सर्जन। वनस्पतियों में ये सभी लक्षण पाये जाते हैं। सजीवों के स्नायुओं में ये लक्षण होने चाहिएँ—संकुचन तथा प्रसारण, संचालनशीलता, स्पन्दनशीलता तथा रक्त संचार। जन्तुओं के स्नायुओं में ये सब बातें होती हैं। ठीक इसी तरह वनस्पतियों के तन्तुओं में भी ये बातें होती हैं। वनस्पतियों के दो भेद होते हैं—साधारण तथा संवेदनशील। साधारण कोटि की वनस्पति को छूने से उसमें संकुचन नहीं दिखाई देता, छुई-मुई (लाजवन्ती) के एक पत्ते को छूते ही सारे पत्ते सिकुड़ जाते हैं। बोस महाशय ने 'इनफिजियल कान्ट्रेक्शन रिकार्डर' नामक यन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष दिखला दिया कि वनस्पतियों के कोषाणुओं में उसी प्रकार का संकुचन होता है, जैसा जन्तुओं या मानव के शरीर-कोषाणुओं में।

वनस्पतियों में जन्तुओं की ही भाँति स्नायुओं (ज्ञान-तन्तुओं) द्वारा अनुभूति का संचालन होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन करने के लिए बोस महाशय ने 'रेजेमेण्ट रिकार्डर' नामक यन्त्र का आविष्कार किया।

ऑपरेशन करते समय डॉक्टर को जिस अंग में ऑपरेशन करना होता है, उसके पास ही एक तरह का कोकेन का इंजेक्शन लगा देते हैं। वह अंग सुन्न हो जाता है, परिणामतः ऑपरेशन करते हुए पीड़ा नहीं होती। शरीर-विज्ञान में यह क्रिया 'फिजियोलॉजिकली ब्लॉक' कर देने की क्रिया कहलाती है। इस क्रिया द्वारा उस अंग की पीड़ा की खबर स्नायुओं (ज्ञान-तन्तुओं) द्वारा मस्तिष्क तक नहीं पहुँचने पाती। बोस महाशय ने वनस्पतियों पर क्लोरोफार्म जैसी औषधि या विष का प्रयोग करके यह सिद्ध किया कि इनके प्रयोग से उनमें भी अनुभूति का संचालन अवरुद्ध हो जाता है।

प्राणियों की नाड़ियों में स्पन्दन होता है। ठीक इसी प्रकार

वनस्पतियों की नाड़ियों में भी स्पन्दन होता है। इसे प्रत्यक्ष दिखलाने के लिए उन्होंने 'आसिलेटिंग रिकार्डर' नामक यन्त्र बनाया।

वनस्पतियों की वृद्धि-गति को नापने के लिए श्री बोस ने बड़ा यत्न किया। यह वृद्धि-गति औसतन १/१०००००० इंच (एक इंच का दस लाखवाँ भाग) प्रति सैकण्ड होती है। इनके 'क्रेस्कोग्राफ' यन्त्र से इस वृद्धि-गति का सरलता से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है।

आरम्भ में यूरोपियन विद्वानों तथा वैज्ञानिकों को श्री बोस के अन्वेषणों तथा आविष्कारों पर विश्वास न हुआ। कुछ-एक ने तो 'परियों की कहानियाँ' कहकर उनका उपहास भी किया। किन्तु सन् १८९५ में उन्हें लन्दन विश्वविद्यालय ने 'डॉक्टर ऑफ साइन्स' की उपाधि से विभूषित किया। सन् १९०० में वे इंग्लैंड गए। वहाँ उन्होंने अपने अन्वेषणों के सम्बन्ध में अनेक व्याख्यान दिये। उन्होंने समस्त यूरोप का भ्रमण किया। जहाँ-जहाँ वे गए, वैज्ञानिक उनकी ओर आकर्षित हुए। डॉ० बोस ने अपने आविष्कृत यन्त्रों की सहायता से वनस्पति के जीवन का मानव आदि के साथ सादृश्य प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। यूरोप की विज्ञान-सभा में जब उन्होंने अपने आविष्कारों को दिखलाया तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। लन्दन की रॉयल सोसायटी द्वारा संचालित 'डेवी फैरेडे' प्रयोगशाला में कुछ वर्ष डॉ० बोस ने लार्ड रैले सर जेम्स देवार के साथ काम किया। सन् १९०२ में वे पैरिस में सम्पन्न हुई विज्ञान-कांग्रेस में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए। सन् १९०३ में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सी०आई०ई० तथा १९१२ में सी० एस०आई० की उपाधि देकर सम्मानित किया। बाद में इन्हें 'सर' की उपाधि भी दी गई। १९१५ में ये प्रेजीडेन्सी कॉलिज से रिटायर हो गए, किन्तु सरकार ने उन्हें उसी वेतन पर वैज्ञानिक अन्वेषक नियुक्त कर दिया। १९१७ में इन्होंने 'बोस विज्ञान मन्दिर' की स्थापना की।

'विज्ञान मन्दिर' की स्थापना पर इन्होंने अपनी कठोर परिश्रम की कमाई का पाँच लाख रुपया लगा दिया। अपने सभी आविष्कार तथा यन्त्र इसी संस्था के अर्पण कर दिये। जनता ने भी अपनी ओर से इस संस्था को धनराशि एकत्र करके भेंट की तथा सरकार ने भी इस संस्था के महत्व का मूल्यांकन करके आर्थिक सहायता प्रदान की। डॉ० बोस ने अपने किसी आविष्कार को पेटेण्ट नहीं कराया, परन्तु

धन की अब उन्हें कुछ कमी न रही थी। भारत से ही नहीं, विदेशों से भी उन्हें पर्याप्त धन प्राप्त होने लगा। देहावसान से पूर्व बोस महाशय ने 'विज्ञान मंदिर' को १५ लाख रुपया प्रदान किया।

१९२६ में ऑक्सफोर्ड की ब्रिटिश काउंसिल में उन्होंने अपने आविष्कारों के बारे में बड़ा महत्वपूर्ण भाषण दिया था। इस भाषण को सुनने के लिए प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइनस्टाइन भी आए थे और बहुत प्रभावित हुए थे।

डॉ० बोस केवल वैज्ञानिक ही नहीं थे, वे एक महामानव थे। उनका हृदय परदुःखकातर था। वे अपनी आय का केवल पाँचवाँ भाग अपने उपयोग में लाते थे। शेष सारी आय निर्धन विद्यार्थियों तथा शिक्षण-संस्थाओं को प्रदान कर दिया करते थे। मद्य-निषेध, साहित्य की उन्नति आदि, स्त्री-शिक्षा, समाज-उपकार के कार्यों के लिए भी वे अपनी वसीयत में दान लिख गए थे।

२३ नवम्बर, १९३६ को गिरीडीह नगर में इस महान् वैज्ञानिक का देहावसान हुआ।

: १४ :

क्यूरी दम्पति

संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु 'रेडियम' है। विज्ञान के अनुसंधानों में इसका बहुत भारी महत्व है। रेडियम का आविष्कार मैडम क्यूरी नाम की महिला ने किया था। इनके पति प्रोफेसर क्यूरी का भी इस आविष्कार में पूर्ण सहयोग था। अतः क्यूरी दम्पति को ही रेडियम का आविष्कारक कहना चाहिए।

मेरिया—पोलैंड में स्क्लोदोवस्का नामक एक प्रोफेसर थे। उन्हीं के घर ७ नवम्बर सन् १८६७ को एक पुत्री पैदा हुई। उसका नाम मेरिया रखा गया।

इसकी आरम्भिक शिक्षा वारसा में ही हुई। पिता के प्रभाव के कारण विज्ञान में बाल्यकाल से ही इसकी गहरी रुचि थी।

उन दिनों पोलैंड पर रूस के शासक ज़ार के घोर अत्याचार हो रहे थे। राष्ट्रीय प्रवृतियों को कुचलने के लिए रूसी शासन ने वहाँ के स्कूलों में पोलिश भाषा को हटाकर रूसी भाषा का शिक्षण आवश्यक कर दिया था, किन्तु पोल लोगों की राष्ट्रीय भावनायें दबाई न जा सकीं। क्रान्तिकारी गुप्त संगठन बनाकर पोल लोग छिपे-छिपे विद्रोह की तैयारी करने लगे। छात्रावस्था में ही मेरिया भी क्रान्तिकारी दल की सदस्या बन गई। मेरिया ने आरम्भिक शिक्षा समाप्त करके फ्रंको के विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने का प्रार्थना-पत्र भेजा। किन्तु स्त्री जाति होने के कारण उन्हें प्रवेश न मिला। अन्त में पैरिस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने में वह सफल हो गई। निर्वाह के लिए मेरिया को पढ़ने के साथ-साथ पढ़ाने का भी काम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने

घर का भी सारा काम स्वयं करना पड़ता था। किंतु वह परिश्रम से ज़रा भी न घबराती थी और उसका एक-एक मिनट हर एक काम के लिए निश्चित था।

मेरिया अब एक पूर्ण युवती हो चुकी थी। उसके मुख पर तेजस्विता और शोभा झलकती थी। पैरिस विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री क्यूरी उसके रूप और गुण पर आकृष्ट हुए और सन् १८९५ में ये दोनों विवाह-बन्धन में बँध गए।

प्रो० पियरे क्यूरी—प्रोफेसर पियरे क्यूरो का जन्म सन् १८५९ में, पैरिस में हुआ था। बाल्यकाल से ही उसकी विलक्षण प्रतिभा प्रकट होने लगी थी। अध्ययनकाल में वह सुयोग्य छात्र गिने जाते थे और उन्होंने पैरिस विश्वविद्यालय से विज्ञान विषय में सर्वोच्च प्रमाणपत्र प्राप्त किया था। इसके उपरान्त वे उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हो गए थे। पियरे क्यूरी और मेरिया—दोनों ही इस अन्तर्राष्ट्रीय विवाह-सम्बन्ध पर अत्यन्त प्रसन्न थे। दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव में बहुत समता थी। दोनों एक-दूसरे के अत्यन्त अनुकूल थे। परिणाम यह हुआ कि दोनों मिलकर वैज्ञानिक अनुसंधान करने में जुट गए।

सन् १८९५ में इस वैज्ञानिक जोड़ी का विवाह हुआ और विवाह के बाद मेरिया को 'मैडम क्यूरी' नाम प्राप्त हो गया। १८९५ में ही जर्मन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक विल्हेल्म राँजन ने किरण-विज्ञान पर एक खोजपूर्ण निबंध पढ़ा। उसी वर्ष फ्राँस के प्रख्यात वैज्ञानिक हेनरी बैकरेल ने शोध करके बताया कि कतिपय रासायनिक पदार्थों में यह गुण होता है कि यदि उन्हें कागज़ में लपेट कर फोटो की प्लेट पर रख दिया जाए, तो प्लेट पर प्रकाश-किरणों का चित्र उतर आता है। इसका कारण यह है कि उन पदार्थों से अदृश्य किरणें निकलती हैं। पदार्थों के इस गुण को बैकरेल ने रश्मि-विकीर्णन (रेडियो एक्टिविटी) नाम दिया।

बैकरेल की उक्त खोज से क्यूरी दम्पति का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उनके मन में प्रेरणा हुई कि जिन पदार्थों द्वारा रश्मि विकीर्णन होता है, उनमें अवश्य ही कोई स्वतन्त्र पदार्थ विद्यमान रहता है, जिससे रश्मियों का प्रस्फुटन होता है। अब वे दोनों उस रश्मि-विकीर्णक पदार्थ को पृथक् करने में लग गए। पति पत्नी दिन रात इस पदार्थ को पाने के लिए अथक निरन्तर परिश्रम

करने लगे। तीन वर्ष के निरन्तर परिश्रम के उपरांत मैडम क्यूरी ने दो तत्वों को खोज निकालने में सफलता प्राप्त की। एक तत्व का नाम उसने अपनी जन्मभूमि के नाम पर 'पोलोनियम' रखा और दूसरे तत्व का नाम रेडियम रखा। शीघ्र ही विज्ञान-जगत् में इस अनुसंधान की धूम मच गई।

इस अनुसंधान पर क्यूरी दम्पति तथा बैकरेल को नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

मैडम क्यूरी यूरेनियम का अध्ययन कर रही थीं। यूरेनियम पिचब्लेंड नामक खनिज पदार्थ से अलग करके निकाला जाता है। मैडम क्यूरी ने यह देखना आरम्भ किया कि पिचब्लेंड किन-किन तत्वों से बनता है। इस खोज में उसने दिन-रात एक कर दिया। अन्ततः, एक ऐसा तत्व उसके हाथ लगा, जिसमें बैकरेल के खोजे यूरेनियम से भी पच्चीस लाख गुना अधिक रश्मि-विकीर्णन की शक्ति है। इसी तत्व का नाम पियरे दम्पति ने रेडियम रखा। अस्सी हज़ार मन पिचब्लेंड को छानने के अनन्तर एक छटाँक से भी कम रेडियम प्राप्त होता है। यदि पिचब्लेंड मिल भी जाए, तो भी एक के बाद एक तत्व को अलग करते-करते रेडियम के सूक्ष्मकण को ढूँढ़ निकालना कोई हँसी-खेल नहीं। रेडियम का एक नन्हे से नन्हा कण भी अंधकार में स्वयं जगमगाता तथा आसपास के कुछ पदार्थों को ज्योतिर्मय कर देता है। यह निरन्तर ज्योति तथा शक्ति की वर्षा करते हुए वातावरण में चारों ओर विद्युत का संचार कर देता है। इसके अपने अन्दर क्षण के सूक्ष्मतम भाग में अनेक बार कायापलट होती रहती है; अतः इसमें से निरंतर रश्मियों तथा शक्ति की वर्षा होते रहने पर भी इसका शक्तिभंडार कभी समाप्त नहीं होता।

पिचब्लेंड एक बहुमूल्य वस्तु है। यदि आस्ट्रिया के सम्राट् उदारता-पूर्वक क्यूरी दम्पति को एक टन पिचब्लेंड की भेंट न देते तो रेडियम का आविष्कार करना कठिन था।

रेडियम के आविष्कार की घोषणा क्यूरी दम्पति ने दिसम्बर, सन् १८९८ में की थी।

तीन वर्ष तक रेडियम की खोज में अथक परिश्रम करने के कारण मैडम का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था; किन्तु उन्हें अपने आविष्कार पर अत्यन्त प्रसन्नता थी और अब उन्होंने उसका ध्यान

रेडियम के प्रयोगों पर लगा दिया था।

रेडियम संसार का सबसे अधिक प्रकाशवान् तथा शक्तिशाली तत्व है। इसमें से निकलने वाली सूक्ष्म रश्मियों में प्रबल भेदन शक्ति होती है। वे धातु की मोटी से मोटी चादर को भी पार करके निकल जाती हैं। कैंसर आदि भीतरी फोड़ों के उपचार के लिए रेडियम की रश्मियों का उपयोग किया जाता है। रेडियम द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि संसार के समस्त पदार्थ केवल शक्ति के ही विभिन्न भौतिक रूप हैं और एक तत्व के परमाणुओं की रचना में परिवर्तन करके दूसरे तत्व का निर्माण किया जा सकता है।

रेडियम अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। अभी तक २-३ छटाँक रेडियम ही प्राप्त किया जा सका है। इसका कुछ भाग तो संसार के मुख्य हस्पतालों में रखा गया है तथा कुछ वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में। दो करोड़ रुपये व्यय करके एक तोला भर रेडियम निकाला जा सकता है।

रेडियम के आविष्कार से विज्ञान-जगत् में हलचल मच गई। पैरिस विश्वविद्यालय ने रेडियम पर अनुसंधान करने के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना की। इस विभाग के अध्यक्ष प्राध्यापक क्यूरी बने तथा उपाध्यक्षा मैडम क्यूरी बनीं।

क्यूरी दम्पति का वैवाहिक जीवन अत्यन्त सुखमय था। उन पर सम्मान की वर्षा हुई थी। उन्हें धन-संपत्ति, यश तथा सन्तान-- तीनों प्रकार के सुख प्राप्त हुए। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था तथा दोनों को एक-दूसरे पर बड़ी श्रद्धा तथा विश्वास था।

किन्तु अकस्मात् वज्रपात हुआ, सन् १९०७ में, एक मोटर दुर्घटना में प्राध्यापक पियरे क्यूरी का देहान्त हो गया। मैडम क्यूरी के लिए यह आघात असह्य था। परन्तु अपने कर्तव्यपालन से वे तनिक भी विमुख न हुईं। अपने खोजपूर्ण कार्यों में वे पूरे मनोयोग से समय लगाने लगीं। अब उनको पति का स्थान प्राप्त हो गया। ये निरन्तर कार्य में लीन रहती थीं और कठोर परिश्रम की प्रतिमूर्ति बन गई थीं।

इन्होंने रसायन-सम्बन्धी अपने खोजपूर्ण कार्यों के कारण बड़ा यश प्राप्त किया और सन् १९११ में इन्हें रसायन-शास्त्र सम्बन्धी खोजों के कारण 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। इससे पूर्व दम्पति को

१६०३ में यही पुरस्कार मिल चुका था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

यश और सम्मान में मैडम क्यूरी अपनी जन्मभूमि को न भूली थीं। उन्होंने पेरिस के साथ-साथ अपने जन्म स्थान वारसा में भी 'रेडियम इंस्टीट्यूट' की स्थापना की।

सन् १६१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। यह सन् १६१८ तक जारी रहा। इस भीषण युद्ध में मैडम क्यूरी ने अपनी सेवायें अर्पण कीं। रेडियम द्वारा युद्ध में घायल सैनिकों के उपचार करके उसने बड़ा ही उपकार का काम किया। युद्ध के उपरान्त सन् १६२१ में अमेरिका की ओर से मैडम क्यूरी को सम्मान सहित आमंत्रण मिला। जब वे वहाँ गईं तो लोगों ने उनका महान् स्वागत किया। अमेरिका की जनता ने सम्मानार्थ एक ग्राम विशुद्ध रेडियम भेंट किया, जिसका मूल्य पच्चीस सौ डालर से भी अधिक था। वहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानार्थ उपाधियाँ देकर सम्मानित किया। दानवीर एंड्र कारनेगी ने उन्हें दस छात्रवृत्तियाँ देने का अधिकार दिया, जिससे वे प्रतिभाशाली युवकों को अपने निरीक्षण में नियुक्त करके विज्ञान-सम्बन्धी अनुसंधान में प्रशिक्षित कर सकें। इन छात्रवृत्तियों का सम्पूर्ण व्यय कारनेगी ने स्वयं वहन करना स्वीकार किया।

सन् १६२६ में, फ्रांस सरकार ने १५ लाख रुपये की लागत से एक रेडियम फैक्टरी तथा एक नवीन प्रयोगशाला की स्थापना की। मैडम क्यूरी उसकी अध्यक्षा नियुक्त की गईं।

४ जुलाई सन् १६३४ में, विज्ञान क्षेत्र की इस तारिका का परलोक-गमन हो गया।

मैडम क्यूरी की दो पुत्रियाँ हुई थीं। उन्हें ऊँची शिक्षा दी गई थी। उनमें से एक पुत्री का विवाह विज्ञान के प्राध्यापक जोलियो से हुआ था। सन् १६३५ में, रेडियम एक्टिविटी पर महत्वपूर्ण अनुसंधान करके जोलियो दम्पति ने भी 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त किया। इस प्रकार मैडम क्यूरी की पुत्री ने अपने माता-पिता के यश को चार चांद लगाए।

: १५ :

चन्द्रशेखर वेंकटरमन

प्रतिभा किसी भी देश या जाति, प्रदेश या नगर की पैतृक संपत्ति नहीं। दक्षिण भारत के त्रिचनापली नामक स्थान पर श्री रमन का जन्म हुआ। अपनी भौतिक विज्ञान सम्बन्धी प्रतिभा के बल पर उन्होंने न केवल भारत के वैज्ञानिकों में प्रमुख स्थान ही प्राप्त किया है; अपितु विश्व के भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

श्री रमन का जन्म सन् १८८८ में हुआ। इनके पिता श्री चन्द्र-शेखर अय्यर अपने गाँव में कृषि-कार्य करते थे। आर्थिक अवस्था साधारण थी। कुछ समय बाद वे त्रिचनापली नगर में जाकर एक स्कूल में अध्यापक हो गए। साथ ही वे गणित और भौतिकी का विशेष अध्ययन स्वतन्त्र रूप से करते रहे। अपने ही अध्यवसाय से उन्होंने भौतिकी विषय सहित बी० ए० की परीक्षा पास कर ली। फिर वे कॉलेज में भौतिकी विषय के अध्यापक हो गए। एक ओर उनकी विज्ञान की ओर रुचि थी, दूसरी संगीत से उन्हें अपार प्रेम था। वे वीणावादन में अतीव निपुण थे और शास्त्रीय संगीत के अध्ययन तथा अभ्यास में लीन रहा करते थे। घर में कला और विज्ञान के इस वातावरण का श्री रमन पर आरम्भ से ही बहुत प्रभाव पड़ा और दोनों में उनकी सहज प्रवृत्ति हो गई। श्री रमन पर इनकी माता श्रीमती पार्वती अम्मल का भी बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उनके पैतृक घराने में कई संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् हो चुके थे। स्वयं उनके पिता भी संस्कृत शास्त्रों के भारी विद्वान् थे। परिणामतः, पार्वती अम्मल संस्कृत की परम विदुषी, गंभीर स्वभाव

वाली, सौजन्यपूर्ण तथा सहानुभूतिशीला थीं। उनके कठोर परिश्रम, सेवाभाव, उदारता आदि गुणों का श्री रमन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने संस्कृत की कई पुस्तकें छोटी अवस्था में ही पढ़ डाली थीं। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में उन्हें माता से बहुत सहायता मिली।

कुछ समय बाद श्री चन्द्रशेखर विज़गापट्टम चले गए। यहाँ वे अंग्रेज़ी के प्रकाण्ड विद्वान् श्रीनिवास आयंगर के सम्पर्क में आए। इससे बालक रमन में अंग्रेज़ी भाषा के अध्ययन की रुचि जाग्रत हुई।

स्कूल में प्रविष्ट होते ही श्री रमन अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगे थे। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ससम्मान मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। दो वर्ष बाद प्रथम वर्ग में एफ० ए० पास की। फिर वे उच्च शिक्षा के लिए मद्रास चले गए। वहाँ के प्रेज़ीडेन्सी कॉलेज में बी० ए० में प्रविष्ट हो गए। उस समय वे अपनी कक्षा में सबसे छोटे थे। एक प्राध्यापक ने आश्चर्य से पूछा कि स्कूल का यह विद्यार्थी कक्षा में कैसे आ गया है। जब उन्हें विदित हुआ कि वह बी० ए० का छात्र है, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कठोर परिश्रम, गहन अध्ययन और सूक्ष्म बुद्धि के कारण शीघ्र ही वे विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों के लिए आकर्षण का केन्द्र हो गए।

श्री रमन प्रत्येक कक्षा में समय पर पहुँच जाते; किन्तु शीघ्र ही उठकर बाहर चले जाते। बाहर जाकर वे अपना समय विज्ञान के नये से नये प्रयोग में लगाते थे। कक्षा में उनका मन नहीं लगता था; क्योंकि कक्षा में जो कुछ पढ़ाया जाता था, उसे तो वे पहले ही स्वतन्त्र रूप से पढ़ चुके थे। सन् १९०४ में उन्होंने भौतिक विज्ञान लेकर बी० ए० की परीक्षा प्रथम वर्ग में पास कर ली। मद्रास यूनिवर्सिटी में वे सर्वप्रथम आए थे। इसका कारण यह है कि वे केवल पाठ्य-पुस्तकें ही नहीं पढ़ते थे; बल्कि दो वर्ष के अध्ययनकाल में उन्होंने भौतिक विज्ञान सम्बन्धी सभी ऊँचे दर्जे की पुस्तकें स्वतन्त्र रूप से पढ़ ली थीं। भौतिकी में प्रथम वर्ग में बी० ए० करने के कारण उन्हें 'अरणी स्वर्ण पदक' मिला और प्राध्यापकों ने उनके अध्यवसाय की मुक्तकंठ से सराहना की।

इसके बाद वे एम०एस-सी० में प्रविष्ट हुए। वे सिद्धान्त (Theory) और प्रयोग (Practical) में समान रूप से मनोयोग प्रकट करते थे।

इसक ग्रातिरिक्त अवकाश की अवधि में वे स्वतन्त्र अध्ययन और चिन्तन में लीन रहते थे। अब उन्हें अपने विचार प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ लेख लिखकर इंग्लैंड की विख्यात विज्ञान सम्बन्धी पत्रिकाओं को भेजने आरम्भ किये। उन विद्वत्तापूर्ण लेखों के प्रकाशन से, शीघ्र ही इनका नाम विज्ञान जगत् में प्रसारित होने लगा। यद्यपि उस समय इन्होंने अभी एम० एस-सी० पास न की थी।

सन् १९०६ में उन्होंने एम० एस-सी० परीक्षा पास की। इसमें भी वे सर्वप्रथम रहे थे। बुद्धि, विद्या और मौलिक प्रतिभा के धनी श्री रमन का शरीर सदा ही दुर्बल-सा रहा। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। सरकारी शिक्षा-अधिकारी उन्हें ऊँची शिक्षा के लिए विलायत भेजना चाहते थे; परन्तु डॉक्टरी परीक्षा के बाद उनका शरीर विदेश-यात्रा के अनुकूल नहीं पाया गया; अतः विदेश में जाकर शिक्षा पाने से उन्हें वंचित रहना पड़ा।

किन्तु निराशा इन्हें छू भी नहीं गई। इन्होंने कलकत्ता में होने वाली भारतीय वित्त विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित होने का निश्चय किया। उसके लिए इन्हें नवीन विषयों का अध्ययन करने की आवश्यकता थी। इन्होंने बड़े उत्साह से समय के भीतर ही उन विषयों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। परीक्षा का परिणाम आया और ये सर्वप्रथम रहे।

इस समय इनकी अवस्था केवल १९ वर्ष की थी। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर सरकार के ऊँचे अधिकारियों ने इन्हें वित्त विभाग में डिप्टी डायरेक्टर जनरल का पद प्रदान किया। इस पद पर नियुक्त होने वाले ये सबसे छोटी आयु के व्यक्ति थे। इस पद पर इन्होंने बड़ी योग्यता, कर्मठता और कार्य-कुशलता का परिचय दिया। ये निःस्वार्थ भाव से यथाविधि कर्त्तव्य-पालन करते थे और शासक वर्ग इनसे पूर्णतया सन्तुष्ट था। कुछ समय इन्हें डाक-विभाग के महानिदेशक (डायरेक्टर जनरल) का पद प्रदान किया गया। इसे भी ये पूरी योग्यता से निभाने लगे।

परन्तु इनके मन में सदा हलचल मची रहती थी। ये अपने अतिरिक्त समय को विज्ञान-संबन्धी अध्ययन, प्रयोग एवं परीक्षण में लगाया करते थे। इन्हें अपने जीवन का लक्ष्य विज्ञान ही प्रतीत

होता था। सरकारी पद पर रहते हुए ही ये कलकत्ता की प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं में आते-जाते रहते थे। वे सदा वैज्ञानिक शोध कार्यों, अनुसन्धानों और आविष्कारों में लग जाने के लिए लालायित रहते थे। उन्होंने एक दिन इस मानसिक द्वन्द्व को समाप्त कर दिया और अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। उन्हें कलकत्ता के विज्ञान विद्यालय में प्रिंसिपल का पद मिल गया। आर्थिक लाभ की दृष्टि से यह पद इतना अच्छा न था; किन्तु फिर भी श्री रमन को इससे हार्दिक प्रसन्नता हुई; क्योंकि इस पद पर रहकर वे अपनी आकांक्षाओं और कल्पनाओं को मूर्त्त रूप दे सकते थे।

इनके सरकारी पद त्याग तथा विज्ञान विद्यालय के प्रिंसिपल पद पर नियुक्त होने की कथा बड़ी मनोरंजक है। एक दिन कलकत्ता में वे ट्राम से कहीं जा रहे थे। मार्ग में उनकी दृष्टि एक साइनबोर्ड पर पडी। उस पर लिखा था—"इण्डियन एसोसिएशन फॉर दी कल्टीवेशन ऑफ साइंस"। अपने गन्तव्य स्थल को भूलकर श्री रमन तुरन्त वहाँ उतर पड़े। वे उस विज्ञान-संस्था के कार्यालय के भीतर पहुँचे। सौभाग्य से बंगाल के शिक्षा विशेषज्ञ, कलकत्ता यूनिवर्सिटी से संस्थापक श्री आशुतोष मुकर्जी (श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी के पिता) उस समय कार्यालय में विराजमान थे। उनके साथ अन्य कई वैज्ञानिक भी वहाँ उपस्थित थे। श्री रमन ने उन्हें अपना परिचय दिया और विज्ञान सम्बन्धी अपने आविष्कारों की चर्चा की। श्री आशुतोष मुकर्जी इनसे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने श्री रमन को अपनी संस्था का सदस्य बना लिया। उन्होंने रमन को विज्ञान कॉलिज का प्रिंसिपल नियुक्त किया। इस नियुक्ति का बड़ा विरोध हुआ। जिन दानी महानुभावों ने विज्ञान कॉलिज के लिए दान दिया था, उनकी इच्छा थी कि कोई ऐसा विद्वान् इस कॉलिज का प्रिंसिपल बनाया जाए, जो विदेशों से डिग्रियाँ लेकर आया हो। किन्तु श्री आशुतोष मुकर्जी को व्यक्ति की योग्यता की बहुत भारी पहचान थी। उन्होंने श्री रमन को विज्ञान कॉलिज के प्रिंसिपल पद के लिए सबसे योग्य व्यक्ति समझा। उन्होंने दानी महानुभावों को समझा-बुझाकर शान्त किया। विज्ञान कॉलिज के उद्घाटन अवसर पर श्री आशुतोष मुकर्जी ने भाषण करते हुए कहा था—"हमारा यह सौभाग्य है कि श्री रमन की सेवायें हमें प्राप्त हो गई हैं।" श्री रमन ने अपनी

योग्यता की धाक बैठा दी। शीघ्र ही वे विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों में सर्वप्रिय हो गए। इनके मधुरता तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार से छात्र तथा प्राध्यापक मंत्रमुग्ध हो गए। इनकी गणना सर्वप्रिय प्राध्यापकों में होने लगी। इनका जीवन विद्यार्थियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया।

श्री रमन ने भौतिकी की विभिन्न शाखाओं पर विशेष गवेषणा का कार्य आरम्भ किया। कॉलेज की संपन्न प्रयोगशाला, साथी प्राध्यापकों और आज्ञाकारी छात्रों को पाकर वे नये से नये आविष्कार करने में जुट गए। थोड़े ही समय में विज्ञान वेत्ताओं के मध्य इनका महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित हो गया। वे दिन-रात अपने प्रयोगों में जुटे रहते थे। शरीर की ओर इनका ध्यान ही न था। मानो, शरीर को इन्होंने विज्ञान के ही अर्पण कर रखा हो।

श्री रमन के आविष्कार प्रकाश तथा ध्वनि से सम्बन्ध रखते हैं। अध्ययन समाप्त करने के बाद से ही वे इनकी खोज करने में लग गए थे। कॉलेज में आकर इन्होंने अपने आविष्कारों को पूर्ण रूप प्रदान किया। इनके ये आविष्कार सर्वथा मौलिक थे। इनके आविष्कारों में सबसे महत्वपूर्ण 'रमन किरण' है। प्रकाश-शास्त्र (Optics) के क्षेत्र में संभवतः यह सबसे अधिक उपयोगी आविष्कार है। इस आविष्कार के सिद्धान्तों का प्रकाशन होने पर विज्ञान-जगत् ने इन्हें बहुत सम्मान दिया और विश्व के वैज्ञानिकों में इनकी ख्याति पहुँच गई।

इसके बाद इन्होंने दूसरा महत्वपूर्ण आविष्कार 'रमन प्रभाव' प्रकट किया। यह ध्वनिशास्त्र (Accoustics) से सम्बन्ध रखता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने चुम्बकीय शोध, ऐक्स-रे, सामुद्रिक जल, रंग तथा ध्वनि के विषय में अनेक शोध-पूर्ण कार्य किये हैं। इनके आविष्कारों की संख्या बहुत अधिक है और उनके मध्य ऐसी विविधता है कि इनके कोई भी दो आविष्कार मूलतः एक नहीं हैं। ये सभी आविष्कार विज्ञान के अत्यन्त व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। इनका अनुसंधान क्षेत्र भौतिकी तथा ध्वनि-विज्ञान के मध्य व्याप्त है।

श्री रमन अत्यन्त निर्भीक, निश्चिन्त, निर्लिप्त, शान्त तथा सद्भावनापूर्ण स्वभाव वाले व्यक्ति हैं। अटूट लगन, कठोर परिश्रम

और लक्ष्य की तह तक पहुचने वाली सूक्ष्म दृष्टि और सूझ-बूझ के कारण ही इन्हें इतनी सफलता मिली है। रूस, अमेरिका तथा यूरोप की यात्रा करके इन्होंने विज्ञान-जगत् का निकट से अध्ययन किया है। उक्त सभी देशों के वैज्ञानिकों तथा विज्ञान-संस्थाओं द्वारा उनका अत्याधिक सम्मान किया गया है। देश से ही नहीं, विदेशों से भी उन्हें अपने अनुसंधानों के लिए पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है।

विज्ञान-सम्बन्धी भाषणों में श्री रमन अपनी सानी नहीं रखते। उन्हें अपना विषय हस्तामलकवत् होता है और वे उसे अत्यन्त सरल बनाकर व्यक्त करते हैं।

सन् १९२९ में भारत में विज्ञान-काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। श्री रमन उसके अध्यक्ष बनाये गए थे। अध्यक्ष पद से उन्होंने बड़ा ही गहन, मार्मिक और प्रवाहपूर्ण भाषण दिया था। उनका वह व्याख्यान सरसता, सहजता और स्वाभाविकता के कारण चिरस्मरणीय रहेगा।

इनके विज्ञान-सम्बन्धी भाषणों से प्रभावित होकर सन् १९२४ में ब्रिटिश विज्ञान परिषद् ने इन्हें टोरण्टो में भाषण देने के लिए सादर आमंत्रित किया था।

भाषण-कला के साथ लेखन कला पर भी उनका बहुत भारी अधिकार है। विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य के लेखक के रूप में वे संसार-प्रसिद्ध हैं। देश-विदेश की विज्ञान-पत्रिकाओं में उनके अगणित लेख प्रकाशित हो चुके हैं और अब भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।

इनके आविष्कारों के विश्वजनीन प्रभाव से प्रभावित होकर इंग्लैंड की रॉयल सोसायटी ने इन्हें अपना सम्मानित सदस्य बनाया। इन्हें ग्लासगो, पेरिस, काशी, मद्रास, ढाका आदि विश्वविद्यालयों ने एल-एल० डी०, डी० एस-सी०, पी-एच० डी०, आदि उपाधियों से विभूषित किया। सन् १९२४ में ही कैलीफोर्निया की 'इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी' ने इन्हें सम्मानित सदस्य बनाया। सन् १९२९ में इन्हें रोम का प्रसिद्ध मेटेशीपदक मिला। सन् १९३० में रॉयल सोसाइटी ने ह्यूजेज पदक से विभूषित किया। इसी प्रकार इन्हें अमेरिका से फ्रेंकलिन पदक भी प्राप्त हुआ।

सन् १९३० में श्री रमन को विश्व का सर्वोच्च नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इन्हें 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९४७ में सोवियत विज्ञान संस्था ने इन्हें सम्मानित सदस्य बनाया। सन् १९४९ में पेरिस की विज्ञान संस्था ने इन्हें सम्मान्य सदस्य मनोनीत किया। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इन्हें राष्ट्रीय अनुसन्धानकर्त्ता तथा राष्ट्रीय प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित किया। सन् १९५४ में इन्हें भारत सरकार ने अपनी सर्वश्रेष्ठ उपाधि 'भारत रत्न' से गौरवान्वित किया।

भारत में विज्ञान की शिक्षा और अनुसन्धान के विकास में डॉ० रमन का बहुत योगदान है। भारतीय वैज्ञानिकों तथा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए उनका जीवन प्रेरणा प्रदान करने वाला है। दुर्बल शरीर और अस्वस्थ होने पर भी उन्होंने कभी परिश्रम और अध्यवसाय से मुँह नहीं मोड़ा। इन्होने 'इण्डियन एकादमी ऑफ साइंसेज़' नामक संस्था तथा 'इण्डियन जरनल ऑफ़ फ़िजिक्स' की स्थापना की। अध्ययन करते रहना ही इनका जीवन है। विज्ञान के अतिरिक्त इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के भी ये प्रकांड पण्डित हैं। इससे प्रकट होता है कि इन्होंने अपने अध्ययन क्षेत्र को सीमित नहीं रखा।

इनके जीवन से यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि प्रतिभा साधना, परिश्रम और सच्ची लगन के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भारत की यह विभूति चिरायु हो और अपने आदर्श से भारतवासियों को अनुप्राणित करती रहे, यही कामना है।

: १६ :

यूरी गागरिन

उड़न खटोले और नभचारी रथों का वर्णन संसार के सभी देशों के साहित्य में प्राप्त होता है, परन्तु मनुष्य को अनेक शताब्दियों तक परीक्षण तथा प्रयोग करने पर भी वास्तविक सफलता १७ दिसम्बर १९०३ को प्राप्त हुई, जब ओलिवर उड़न-कल पर सवार होकर आकाश में उड़ा था। इंजन वाले जहाज़ की यह प्रथम उड़ान थी, अथवा यों कहना चाहिए कि वायुयान के आविष्कार का यह अन्तिम पड़ाव था। इसके अनन्तर निरन्तर सुधार होते चले गए और इतने तीव्र-गति वायुयान बन चुके हैं कि कहा जाता है—"संसार के देशों की दूरी बहुत ही कम हो गई है।

किन्तु मानव की महत्वाकांक्षा नभ में विचरण करके ही समाप्त नहीं हो गई। उसने अन्तरिक्ष के यन्त्र-पक्षी—राकेट का निर्माण करके चन्द्र ही नहीं मंगल और प्लूटो ग्रह तक पहुँचने के सपने देखने शुरू कर दिये हैं। यही नहीं, मंगल ग्रह तक १५ लाख मील की दूरी वह एक दिन में तय करने के मनसूबे बाँधने लगा है और वह प्लूटो तक पहुँचने की इच्छा करने लगा है। इसके लिए वह राकेटों में निरन्तर सुधार करता जा रहा है। हल्का ईंधन और तेज गति—यही उसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आज के वैज्ञानिक अन्तरिक्ष यात्रा के लिए परमाणु-शक्ति को ईंधन के रूप में प्रयुक्त करने की संभावना पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही रूस तथा अमेरिका में अन्तरिक्ष यात्रा की होड़-सी लग गई है।

अन्तरिक्ष अभियान की दिशा में सर्वप्रथम राकेट ४ अक्तूबर, १९५७ को स्पूतनिक प्रथम' के नाम से रूस ने छोड़ा था । यह ५६० मील की ऊँचाई पर तीन मास पर्यन्त पृथ्वी के इर्द-गिर्द चक्कर काटता हुआ ९ करोड़ ६० लाख मील की उड़ान पूरी करने के वाद और पृथ्वी की १४०० परिक्रमाएँ पूर्ण करके वायु-घर्षण से जलकर भस्म हो गया ।

उसी वर्ष (१९५७ में) रूस ने 'स्पूतनिक-२' ३ नवम्वर के दिन छोड़ा । इसमें 'लाइका' नामक एक कुतिया भी भेजी गई थी । किसी प्राणी को अन्तरिक्ष में प्रेपित करने का यह प्रथम अवसर था । इसके वाद सन् १९५८ में रूस ने 'स्पूतनिक ३' को अन्तरिक्ष में प्रेपित किया । इसके अनन्तर अमेरिका ने भी कई उपग्रह अन्तरिक्ष में प्रेपित करने का प्रयास किया । इनमें सबसे महत्वपूर्ण वेनगार्ड प्रथम है ।

२ जनवरी, १९५९ को रूस ने 'ल्युनिक-१' नामक राकेट प्रेपित किया । यह चन्द्रमा के पास से गुजरता हुआ सूर्य का उपग्रह वन गया और कहते हैं कि अब भी घूम रहा है और सूर्य की एक परिक्रमा ४५० दिन में पूरी करता है । इसके अनन्तर रूस ने 'ल्यूनिक—२' छोड़ा, जो चन्द्रमा में उतरकर वहाँ के फोटो लेता हुआ ४ अक्तूवर, १९५९ को धरती पर उतर आया ।

इसके अनन्तर अन्तरिक्ष यात्रा में एक अभूतपूर्व घटना घटित हुई, जिससे संसार दाँतों तले उँगली दवाकर रह गया । वह घटना थी मेजर गागरिन की अन्तरिक्ष में उड़ान ।

संसार के प्रथम अन्तरिक्ष यात्री का नाम है—मेजर अलेकस्यपिक यूरी गागरिन । कल्पना कीजिए कि अन्तरिक्ष में यात्रा करने का साहस करना—मौत के मुँह में आप ही जा गिरना—एक ही वात प्रतीत होती है । किन्तु यूरी गागरिन ने यही साहस किया । अहा! मानव के साहस का कोई अन्त है ? अन्तरिक्ष यात्रा के वाद सही-सलामत वापिस आने के वाद पत्रकारों के सम्मुख उसने कहा—"मेरी आकांक्षा अन्तरिक्ष यात्री वनने की थी ।...यह मेरी अपनी इच्छा थी, किसी-ने भी यह कार्य मेरे सुपुर्द नहीं किया था ।" यह निर्भयता धन्य है ।

इस उड़ान से पूर्व गागरिन ने अन्तरिक्ष यात्रा के लिये कई वर्ष तक निरन्तर अभ्यास किया । अटूट लगन के वल पर वह अपने अन्य साथियों से वाजी मार ले गया और अन्तरिक्ष की उड़ान के लिए

वैज्ञानिक अधिकारियों ने उसे सबसे योग्य पाया। अतः उसे ही इस सरासर जोखिम के काम के लिए चुना गया। उस समय उसके हर्ष की सीमा न थी। ससार में महान् कार्य वे ही कर सकते हैं, जो मृत्यु को तुच्छ समझकर अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं।

यूरी गागरिन १२ अप्रैल, १९६१ को 'वोस्तोक (सूर्योदय)-१' नामक राकेट में सवार होकर अन्तरिक्ष यात्रा पर चला। यह यात्रा उसने १०८ मिनट में पूर्ण की और सफलता प्राप्त करके, १० बजकर ५५ मिनट पर पूर्व निश्चित स्थान पर वापस आ पहुँचा। वह पूर्णतया सकुशल, स्वस्थ तथा प्रसन्न था। पृथ्वी पर उतरने के उपरान्त अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए यूरी गागरिन ने कहा—

"मैं बिलकुल ठीक हूँ। मुझे किसी तरह का घाव या चोट नहीं लगी।...धरती से उड़कर मेरे राकेट ने 'घन वायु मंडल' को पार किया ही था कि निश्चित क्रमानुसार राकेट का प्रथम खंड पृथक् हो गया। उस समय मेरे पैरों के नीचे साइबेरिया का मैदान लहरा रहा था।..अन्तरिक्ष में मुझे अकेलेपन का अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि मैं जानता था कि मेरे अगणित मित्र निरन्तर मेरी तरफ आँखें लगाए हुए हैं।...यात्रा में मुझे धरती का दिन वाला भाग साफ दिखाई देता था। महाद्वीप, द्वीप, तथा बड़े-बड़े दरिया वहाँ से पहचाने जा सकते थे। मैं भली भाँति देख सकता था कि कहाँ भूमि जुती हुई है तथा कहाँ चरागाहें हैं। अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान मैंने प्रथम बार अपने चक्षुओं से पृथ्वी की गोलाकार आकृति देखी। मैं कह सकता हूँ कि क्षितिज का दृश्य अनुपम एवं अतीव मनोहारी था।...जब यान अपनी कक्षा (Orbit) में प्रविष्ट हो गया तो केबिन में भारविहीनता की स्थिति पैदा हो गई। अस्तु, मुझे तो पूर्वाभ्यास था; परन्तु पेंसिल बेचारी में न जाने कहाँ से जान आ गई कि वह मेरे हाथ से छूटी तो केबिन में तैरने-उतराने लगी।...मैं वहाँ लिख सकता था और मेरी लिखावट में कोई परिवर्तन नहीं आया। हाँ, भारविहीन हाथ से लिखते समय कागज़ को कसकर पकड़ना पड़ता ..।...मैंने वहाँ यहाँ की तरह ही खाया-पिया।...और सब कुछ सामान्य था।...मैंने १½ घंटे तक अपने शरीर का भार ही नहीं अनुभव किया।...बादलों की प्यारी-प्यारी हल्की छाया मैंने पृथ्वी पर देखी तो मुझे लगा, मानो अनन्त आकाश एक खेत है और ये जगमगाते सितारे उसकी सह-

लहाती हुई फसल है।...सूर्य की चमक वहाँ इतनी अधिक थी कि मेरे लिए उससे नज़रें मिलाना संभव नही हो रहा था।...ठीक सवा बजे नीचे उतरता हुआ राकेट वायुमंडल में दाखिल हो गया तथा उसकी बाह्य दीवारें उष्ण होकर लपटें देने लगीं; परन्तु मैं अपने केबिन में सुरक्षित था और अविचलित था। क्योंकि वहाँ तो केवल २० डिग्री सेंटीग्रेड तापमान था...यह लो, ग्यारह बजने में ५ मिनट बाकी हैं और मेरे यान ने और अब तो मैंने भी पृथ्वी का स्पर्श पा लिया। माँ की गोद से चन्द्रमा की तरह लपका हुआ बालक सही-सलामत फिर माँ की गोद में आ गया है।"

यूरी गागरिन ने जिस समय अन्तरिक्ष यात्रा के लिए सोत्साह अपने को अर्पण किया। उस समय उसकी अवस्था २७ वर्ष की थी। भय उसे छू नहीं गया था। प्राणों का उसे मोह नहीं हुआ। उसके सम्मुख उद्देश्य और केवल उद्देश्य ही था।

अन्तरिक्ष-यात्रा की इस सफलता पर यूरी गागरिन को सोवियत संघ सरकार ने 'अन्तर्ग्रही अन्तरिक्ष का कोलम्बस' की उपाधि से सम्मानित किया।

संसार के प्रायः सभी देशों ने रूस को इस अपूर्व सफलता पर हार्दिक बधाई दी और यूरी गागरिन का नाम 'प्रथम अन्तरिक्ष यात्री' के रूप में विश्व के इतिहास में सदा के लिए अंकित हो गया।

यूरी गागरिन की निर्भयता, उसका साहस, लक्ष्य के लिए उसकी लगन—मानवमात्र के लिए प्रेरणादायक है।

●